खंड

1

पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धान्त

पाठ का प्रारूप

1.1 उद्देश्य
1.2 भूमिका
1.3 पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के विकासक्रम का संक्षिप्त परिचय
1.4 पाश्चात्य का उदय और प्लेटो
1.5 प्लेटो काव्यशास्त्र
1.6 उपसंहार
❑ बोध प्रश्न
❑ सारांश

1.1 उद्देश्य

इस खंड के अधयान के पश्चात्-विद्यार्थी योग्य होगें-

- पाश्चात्य का उदय और प्लेटो को समझने में।
- पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के विकासक्रम का संक्षिप्त परिचय को समझने में।
- प्लेटो काव्यशास्त्र को समझने में।
- उपसंहार को समझने में।

1.2 भूमिका

भारतीय काव्य शास्त्र की तरह ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र या इतिहास भी प्राचीन मात्रा जाता है। आज भी इस पर विवाद है। प्लेटों से पूर्व पिण्डा इस होमर, हेसिओड आदि विद्वानों के नाम मिलते हैं। इन्होंने भी काव्यगत–प्ररेणा, उद्देश्य स्वरूप आदि पर प्रकाश डाला है।

1.3 पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के विकासक्रम का संक्षिप्त परिचय

भारतीय काव्य-शास्त्र के समान पाश्चात्य काव्यशास्त्र का इतिहास भी अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। उसके आरम्भ के विषय में भी आज अन्तिम निर्णय के रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में काव्य-हेतु

काव्य प्रतिभा शक्ति से प्राप्त होती है और कवि तभी किसी काव्य की रचना कर सकता है, जब उसे ईश्वर की ओर से प्रेरणा मिलती है। पाश्चात्य साहित्य में अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनमें बताया गया है कि वाग्देवता या वाग्देवी के आदेश से ही अमुक कवि में कवित्व शक्ति का आविर्भाव हुआ।

आचार्य सुकरात का मत है कि कवि किसी विशिष्ट प्रकृति से ही अनुप्रेरित होकर काव्य की रचना करता है।

पाश्चात्य समीक्षा का क्रमिक विकास– मनुष्य स्वभाव से संवेदनशील और जिज्ञासु है। सृष्टि के आरम्भ में जब किसी मनुष्य अपने नेत्र खोल कर चारों ओर देखा तो प्रकृति और मानव तथा अनके परस्पर सम्बन्धों के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासु उद्‌भुत हुई, रहस्य वर्ष से हर्ष और विमस्य के भाव जागे तथा उन भावों की अभिव्यक्ति के लिए उसने संगीत और काव्य का सहारा लिया। कालान्तर में उसमें विश्लेषण की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई और उसने काव्य के स्वरूप, प्रयोजन, मूल्यांकन आदि पर विार किया जिसने साहित्यिक समीक्षा का सूत्रपात हुआ। साहित्यिक समीक्षा के कार्य हैं– साहित्य की विचार सामग्री (जीवनही बवदजमदज) पर विचार करना, उसकी व्याख्या करना, उसे प्रस्तुत करने वाले भाषा शिल्प का अध्ययन करना, साहित्य की प्रकृति और उसने सम्बद्ध समस्याओं पर विचार करना। परन्तु पाशचात्य काव्य शास्त्र का श्रृंखलाबद्ध इतिहास प्लेटो 427 ई. पू. – ई. पू.) से पूर्व आरम्भ नहीं हो पाया।

पाश्चात्य समीक्षा का मूल यूनान से माना जाता है और प्लेटो को प्रथम पाशचात्य समीक्षक। प्लेटो के समय का समाज, जैसा कि एरिस्टोफेनिस के नाटकों से पता लगता है, अत्यन्त गिरा हुआ था। प्लेटो ने अपने सुग के साहित्य पर उन्होंने तीन आपेक्ष लगाये– 1. साहित्य अज्ञान जन्य होता है। 2. साहित्य सत्य से दूर होता है। 3. साहित्य क्षुद्र मानवीय वासनाओं से उत्पन्न होता है और क्षुद्र वासनाओं को उभारता है।

प्लेटों के अनुसार नवीन सृष्टि होती है; उसमें इतिहास की अपेक्षा अधिक व्यापक और सार्वभौमिक सत्य होता है।'' साहित्य हमें मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है। अरस्तू के साहित्य-सम्बन्धी विचार अत्याधिक स्वस्थ्य हैं। काव्य-प्रकृति के वास्ताविक रूप को समझने पर अधिक बल दिया। प्लेटो साहित्य समाजोपयोगी होना चाहिए। अरस्तू कहते हैं आनन्द तत्व प्रधान होना चाहिए। उनके ग्रंथ का बहुत पड़ा यूरोपीय समीक्षा विशेषत: पुनर्जागरण काल और अठारहवीं शताब्दी में अरस्तू के उपरान्त यूनान में कुछ समय तक अलंकार शास्त्र और वक्तृव्य कला पर ही ग्रंथ लिखे जाते रहे। प्लेटो और अरस्तू के पश्चात् तीसरे प्रसिद्ध यूनानी समीक्षक लौंजाइनस थे। इनमा मानना है कि पाठक या श्रोता को तन्मय कर देना ही काव्य का लक्ष्य है। स्कॉट जेम्स इन्हें प्रलाम स्वच्छन्दवादी सौन्दर्यवादी समीक्षक मानते है।

लैटिन में इन तीन यूनानी समीक्षकों के स्तर पर कोई समीक्षक न हो सका। होरेस काव्य रचना के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण परामर्श दिए। फिर भी उन पर विद्वान अरस्तू का बहुत प्रभाव था। दूसरे लैटिन समीक्षक क्विन्टीलियन काव्य शैली से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर अपना मत प्रतिपादन किया उन्होंने गद्य को साहित्य की पृथक् विधा बतायी और तुलनात्मक आलोचना की नीव डाली।

मानवाद में सृष्टि का केन्द्र ईश्वर को न मानकर मानव माना गया और कि को ही स्वर्ग बनाने की बात कहीं जाने लगी। कुछ अंग्रेजी समीक्षकों ने इटली के मानवाद को अपनाया और प्राचीन मतों को वहीं तक स्वीकार किया जहाँ तक वे बुद्धि को स्वीकार्य थे। जॉन कॉलेट इराम्मस और 1570 ई. के बाद साहित्य की प्रकृति तथा कला की गम्भीर व्याख्या आरम्भ हुई सुधारवादियों ने साहित्य पर अनैतिकता का आरोप उत्तर देते

हुए रिचर्ड विलियिम कहते हैं हमारी वासना को उत्तेजित तो जीवन का प्रतिफलन है और न प्राचीन आदर्शों का अनुकरण वह नवीन सृष्टि है।

इस युग के एक अन्य समीक्षक पटेन्हम उनके अनुसार कल्पना का काम है वस्तुओं के उत्कृष्टतम, सर्वाधिक सुन्दर और शिष्ट बिम्बों को प्रस्तुत करना। उन्होंने काव्य के वास्ताविक, काल्पनिक तथा मिश्रित। काव्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में उनका कथन था कि शिक्षा देना और आनन्द देना दोनों की काव्य के लक्ष्य होने चाहिए, फिर भी अन्होंने काव्य में आनन्द मूल्य को अधिक महत्व दिया। इंग्लैंड में पुर्नजागरण आन्दोलन सिडनी में 'Apologie for poetric' में चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। उन्होंने कल्पना का महत्व स्वीकार किया। शास्त्रवादी (Classisict) समीक्षा के तत्वों सत्य गांभीर्य और उपयोगिता पर बल दिया।

नवशास्त्रवाद– बेन जॉनसन की ''डिस्कवरीज'' इस युग की प्रद्धि रचना है। उनहोंने स्वस्थ विचार और उपयुक्त शैली को काव्य के लिए आवश्यक माना है काव्य हेतुओं के अन्तर्गत उन्होंने प्रतिभा, अभ्यास, महान् कवियों का अनुकरण और व्यापक अध्ययन को आवश्यक माना है। उन्होंने रचना की व्यावहारिक समीक्षा में निजी दृष्टिकोण का योग दिया। उनकी शेक्सपीयर की समीक्षा में निजी दृष्टिकोण का योग दिया। उनकी शेक्पीयर की समीक्षा उल्लेखीय है। उनके साथ अंग्रेजी नवशास्त्रवाद (Neo-classicim) का आरम्भ होता है। 17वीं शताब्दी के मध्य में नियम बनाने शुरू किए। बोयलो ने ''आर्ट पोएटिक'' में काव्य के उद्देश्य काव्य, शैली काव्य प्रकृति और काव्य रूपों के विषय में नियम निर्धारित काव्य की वस्तु के सम्बन्ध में उनका मत था कि वह सामान्य प्रकृति की होनी चाहिए। प्राचीन लेखकों का अनुकरण करने लगे।

सैन्ट एब्रमो ने नियम उपयोगी हो सकते हैं, बुद्धि कल्पना का सुधार कर सकती है, पर इन दोनों का प्रयोग सीमित होना चाहिए। त्रासदी में अतिप्राकृति तत्वों का उन्होने विरोध किया। 17वीं शताब्दी ने नव्यशास्त्रवादी और स्वछदतावादी प्रवृत्तियों में संघर्ष होता रहा। अंग्रेजी नवशास्त्रवाद में पोप का वही स्थान है जो यूरोपीय नवशास्त्रवाद में बोयलो का। उन्होंने भी औचित्य और शालीनाता पर बल दिया। उन्होंने नियमों और सिद्धांतों के विश्लेषण में सार्वभौम मानवीय प्रकृति (universal human nauture) का आधार ग्रहण किया। कि कवि का प्रधान लक्ष्य कल्पना को प्रभावित करना होना चाहिए। उदारता, सार्वभौमता और कल्पना पर बल देने के कारण ही एडीसन को स्वच्छतावाद का अग्रदूत कहा जाता है। शैली के क्षेत्र में भी मतभेद चलता रहा।

कुल मिलाकर अठारहवीं शताब्दी बुद्धि विवेक का युग था। हाँ, उत्तरार्द्ध में नवीन स्वछन्दतावादी प्रवृत्ति प्राचीनवाद को परास्त करने में सफल हुई। नव्यशास्त्री आलोना में शिल्पकार्य और परम्परागत विधान पर विशेष बल दियश गया तो स्वछन्तावाद में परम्परा औश्र गतागुति के प्रति विद्रोह की भावना है।

सन् 1798 ई. में वर्डस्वर्थ के लिरीकल वैलड्स प्रकाशन के साथ ही अंग्रेजी साहित्य में स्वछन्दवाद का प्राबल्य हो ला। फ्रांस की राज्यक्रान्ति तथा बोल्तेयर और गेटे की विचाराधारा और कृतियों ने इस प्रवृत्ति को नवीन शक्ति और दिशा प्रदान की। कॉलरिज शैले, कीट्स आदि कवियों काव्य में आनन्द मूल्य को प्रधान माना और उसे 18वीं शताब्दी की रीति रूढ़ता से मुक्त का प्रयास किया।

कवि अतीत की ओर उन्मुख हुए और अतीत का गौरव-गान उनकी कविता का एक विषय बन गया। सौन्दर्य जिज्ञासा के कारण वे विश्व की गोचर वस्तुओं में अपूर्व छवि के दर्शन करने लगे और उनकी आदर्शमूलक व्याख्या में प्रवृत्त हुए। उनके लिए बाह्य जगत दृष्टि का भ्रम मात्र है, पदार्थ गौण है, दर्शक अज़ैर उसकी दृष्टि ही प्रधान है। उन्होंने काव्य को व्यावहारिक उद्देश्यों की सिद्धि का साधन मात्र न मानकर काव्य की स्वत: पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की ने समाजिक की सर्वथा उपेक्षा कर कवि के प्रबल मनोरागों (strong

emoitions) को प्रमुखता दी और शैले ने कहा "Poetry of the expression of imagination." यद्यपि स्वच्छवाद को बुद्धि के विरुद्ध कल्पना का विद्रोह कहा जाता है, पर वस्तुत+ स्वतच्छतावादियों का विरोध बुद्धि से न होकर कोरी बुद्धिवादिता से था।

स्वच्छन्तावादी समीक्षकों काव्य समीक्षा को सौदर्य दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया। कालरिज ने ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा पद्धतियों का भी प्रतिपादन किया।

इन स्वछवादियों ने साहित्य के अत्यन्त स्वथ्य और स्पष्ट स्वरूप को समझाने का प्रयास किया।

19वीं शताब्दी की राजनीतिक और औद्योगिक क्रान्तियों वैज्ञानिक अनुसन्धानों मनोवैज्ञानिक उपलब्धियों, डार्विन के विकासवाद और आनुवांशिकता के सिद्धांतों मार्क्स में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद फ्रायड के स्वप्नवाद आदि के जन-जीवन और साहित्य दोनों के पर्याप्त परिवर्तन उपस्थित कर दिया। साहित्य जीवन के अधिक निकट आ गया; प्रत्येक विश्वास के आगे प्रश्न-चिन्ह लग चला, अत: नाना मतवाद प्रचलित हुए।

एक वर्ग उन लोगों का था, नीति या अन्त: संस्कार की दृष्टि से अहितकार वसतु की निन्दा करते थे; कार्लाइल रस्किन, टॉलस्टॉय आदि इसी वर्ग के समीक्षक साहित्यकार थे। इन्हें हम नीतिवादी समीक्षक कहते सकते हैं।

उनके अनुसार, कुरूपता को कला द्वारा ही दूर किया जा सकता है तथा कला और जीवन का योग होना चाहिए।

इस शताब्दी के अन्त में कलावादियों ने साहित्य में नीति और आदर्शवादिता का घोर विरोध किया। इस विरोध का श्रीगणेश स्विनबर्ग (1837 ई. 1907) से होता है। उनकी 1866 ई. में प्रकाशित 'Poems and Ballads' नामक कृति ने विक्टोरियन युग की नैतिकता को प्रबल चुनौती दी। वाल्टर पेटर ने कला-कला के लिए मत की प्रतिष्ठा करने का भरसक प्रयत्न किया। वह सत्यम शिव सुन्दरम् को एक मानते थे। उनके शिष्य ऑस्कर वाइल्ड ने लिए के सिद्धांतों को पराकष्ठा तक पहुंचा दिया। इस आन्दोलन के नेता थे– फ्रांस के फ्लोबयर, गोतिये तथा बोदलेयर, इंग्लैंड में पेटर तथा वाइल्ड और अमरीका में एडगर एलेन पो।

20वीं शताब्दी के बिल्कुल आरम्भ में इरविंग बेबिट जैसे नीतिवादी विचारक नीति और आचार पर बल दिया और स्वच्छवादी काव्य में बिम्बवाद का विरोध किया। इटालियन दार्शनिक क्रोचे आत्मवादी दार्शनिक थे। इनके अनुसार कलात्मक सृजन सहजानुभूति की क्रिया है। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद स्वच्छवाद का ही एक उग्र रूप है, जिसमें सम्प्रेषिणक्रिया सर्जना से सर्वज्ञा भिन्न माना गया है प्रतीकवाद में भी वस्तु-मात्र और समाजिक की अवहेलना है; प्रधानता केवल कवि एवं उनके अंतर्मानस की है।

इस शताब्दी फ्राइड और मार्क्स दो जीवन में काम को मूल-वृत्ति मानता है अज़ैर साहित्य को काम-कुण्ठाओं की अभिव्यक्ति है। मार्क्स इस सम्बन्ध में यत्र तंत्र समाजवादी सिद्धांतों की व्याख्या की है। इन दोनों चिन्तकों की विचाराधारा का रचनात्मक साहित्य पर ही नहीं, आलोचना पर भी प्रभाव पड़ा है।

मार्क्सवाद उसके लिए साहित्य सामाजिक कुरीतियों, आर्थिक दुर्व्यव्यथा, राजनीतिक विषमता आदि के उन्मूलन के लिए एक संशक्त साधन है और उसे ऐसा करना चाहिए।

आधुनिक युग में आई.ए. रिचर्ड्स ने साहित्यलोचन के सिद्धांतों के लिए एक नीवन वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया। उन्होंने साहित्य-सृजन को मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा। टी.एस. इलियट का मत है– ''कविता भावों का उन्मोचन नहीं, बल्कि भावों से पलायन है इस व्यक्तित्व की अभिव्यंजना इस प्रकार आधुनिक आलोना को रोमास-विरोधी तथा प्रभाववाद विरोधी (anti-romactic and antiimpressionstic) कहा गया है। वह

व्यक्तिवाद एवं भावोद्रेक के विरुद्ध है। इस आलोचना पद्धति को Neo Humanistic कहा गया है।

अधुनातन आलोचना पद्धति का विकास अमेरिका में हो रहा है। इस आलोना पद्धति के समर्थकों का मत है कि साहित्य से इतर मूल्यों को साहित्य के मूल्यांकन में नहीं लाना चाहिए। इसका एकमात्र प्रयोजन है– केन्द्र को आलोकित करना अर्थात् कृति को प्रकाश में लाना। 'नई आलोचना' उस आधारभूत तत्व को खोजने का प्रयत्न करती है जो सभी कविताओं को कविता बनाती है। इस बात को स्वीकार नहीं करती कि किसी युग का काव्य और आलोचना उस युग के द्वारा निर्धारित होते हैं, यह तो आलोचना के शाश्वत मानदंड मानती है, ... critiscim has absolute standards and principles."

नयी आलोचना कृति को रूपायित करने के लिए 'नया आलोचक' उसके भाषा-कौशल के साधनों के साधनों तथा शिल्प का विश्लेषण करता है वह कवि के सम्पूर्ण कृतित्व का मूल्यांकन न कर कृति-विशेष का ही अध्ययन मूल्यांकन करता है। अत: अब कृति के मूल पाठ (Text) पर उसके भाषा वैज्ञानिक एवं अर्थवैज्ञानिक (semantic) अध्ययन पर बल दिया जाता है।

कैसिरर की 'प्रतीक' सम्बन्धी अवधारणा से प्रेरणा से सुसान लैंगर और माड बोडकिन ने प्रतीक और मनोविज्ञान के सम्बन्ध का अध्ययन किया है और मूल रूप (archetype) का सिद्धांत विस्तार से प्रस्तुत किया है। नया आलोक मानता है कि कविता भावोद्रक का परिणाम न होकर श्रम-साध्य कार्य है। रैन्टम की दृष्टि में कविता चमत्कारवाद-है। बीसवीं शताब्दी में वर्णनात्मक आलोचना का भी पर्याप्त विकास हुआ है।

1.4 पाश्चात्य का उदय और प्लेटो

पाश्चात्य समीक्षा या काव्यशास्त्र के उदय के सम्बन्ध में भी यह कल्पना की जाती है कि वह अत्यन्त प्राचीन है। जिस दिन व्यक्ति-चेतना में ज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा जागी, प्राकृतिक रहस्यमयता के कारण मानव-मन में विविध विरोधी भावों का उदय हुआ, इनकी पूर्ति के लिए उसने विविध साधनों का आश्रय लेना आरम्भ किया, उसी दिन से मानव की स्वभावगत प्रेरणा से ही समीक्षा या शास्त्रीय विवेचनाओं के युग का भी सूत्रपात हो गया होगा। अत: पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का उदय ईसा से 347-427 ई॰ पूर्व यूनानी विचारक प्लेटो से ही माना जाता है। वे साहित्य को अज्ञानजन्य सत्य से दूर, क्षुद्र वासनाओं का उद्दीपक मानकर उसे बहिष्कृत कर देने की प्रेरणा देते हैं। उसने अपनी पूर्ववर्ती काव्य-सम्बन्धी दैवी भावनाओं का भी खण्डन किया। प्लेटो से पूर्व पिण्डा रस, होमर, हेसिओड, ऑरफियस, मॉसयस, हेराक्लटिस, अरिस्टोफेनिस, गार्जियस आदि अनेक विद्वानों के नाम मिलते हैं कि काव्य-प्रेरणा, उद्देश्य, स्वरूप और उसके भाषा आदि विषयों पर विचार प्रकट किये थे और काव्य को आनन्द का विधायक माना था, इस दृष्टि से विशेष माना जाना चाहिए कि उसके विचारों ने अपने परवर्तियों को अत्यधिक उत्तेजना प्रदान की, परिणामस्वरूप काव्य के सभी पहलुओं पर अनेक दृष्टियों और खुले मन से विचार होने लगा।

1.5 प्लेटो काव्यशास्त्र

प्लेटो के पश्चात् सर्वप्रथम उसी के प्रमुख शिष्य अरस्तू का नाम आता है। अरस्तु ने अपने गुरु की प्राय: सभी मान्यताओं का खण्डन कर काव्य-विषय को अधिक विस्तार दिया। उसने काव्य को अनुकरण न मान नव सृष्टि और जीवन के ऐतिहासिक सार्वभौम सत्यों का ज्ञापक प्रमाणित किया। साहित्य को उसने वासनोद्दीपक न

मानकर विरेचक माना। काव्य-समीक्षा को व्यावहारिक स्वरूप देने के कारण अरस्तू का निश्चय ही अत्यधिक महत्त्व है। इनके बाद यूनान में काफी काल तक अलंकार-शास्त्र और वकतृता-कला-सम्बन्धी ग्रन्थों की बाढ़ आई रही। उसके काफी बाद यूनान के काव्य-क्षेत्र में लोंजाइनस का उदय हुआ। लोंजाइनस ने औदात्य को महत्त्व देते हुए तन्मयता को ही काव्योद्देश्य घोषित किया। इन्होंने कवि, रचना और पाठक तीनों की स्थितियों पर, गुणों पर सर्वप्रथम विचार करने का सफल प्रयास किया। लोंजाइनस के बाद होरेस का नाम आता है। इनके बाद लगभग दो सौ वर्षों तक पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र में अपने पूर्ववर्तियों के मतों का मनन, चिन्तन और विश्लेषण ही अधिक होता रहा। अत: इसे पुनर्जागरण का काल कहा जाता है। इस काल में क्रमश: मानवीय चेतनाओं का विकास विशेष रूप से देखने का मिलता है। देवत्व के स्थान पर मानवत्व को, स्वर्ग के स्थान पर धरती को ही स्वर्ग बनाने की भावनाओं को क्रमश: प्रश्रय मिलता गया। काव्य में वर्ण्य-वस्तु और अभिव्यक्ति शैली का इन दोनों ने महत्त्व देकर महत्त्वपूर्ण ढंग से विवेचन किया। 1570 ई० के अतन्तर से साहित्य के स्वभाव और कला आदि पर नये ढंग से सतुंलित विचार होने लगा। साहित्य पर लगाये जाने वाले अनैतिकता आदि के आरोपी का उत्तर देते हुए रिचर्ड विलियम के उसके गुणों की महत्ता प्रतिपादित की। काव्य के शिव तत्व को स्वीकारते हुए आनन्द का महत्व भी बताया। काव्य का उन्मेश कवि की अन्त: शक्ति को ही माना और उसे कवि की नव्य सृष्टि भी कहा। इसी युग के परेन्हम नामक काव्य शास्त्री ने दैवी-प्रेरणा लोक जीवन के अनुभवों और प्राकृतिक शक्तियों को काव्य हेतु स्वीकारा। इन्होंने सर्जना के लिए कल्पना को भी अनिवार्य स्वीकारा। इन्होंने वास्ताविक, काल्पनिक मिश्रित रूप में काव्य विषयों का विभाजन भी किया। काव्योद्देय आनन्द और शिक्षा बताया। औचित्य पर भी इन्होंने बल दिया और आनन्द पर भी। बेन जॉन्सन की डिस्कवरीज इस युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति मानी जाती है। बेन जॉन्सन ने उपयुक्त विचार और उपयुक्त शैली तत्व पर विशेा बल दिया हैं।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र का मध्यकाल नव्यशास्त्रवादी युग कहा जा सकता है। सत्रहवीं शती के मध्य में काव्यशास्त्रियों ने साहित्य सर्जना को व्यवस्थित करने के लिए अनेक प्रकार नियमों का प्रावधान आरम्भ कर दिया था।

परिणाम स्वरूप काव्य के क्षेत्र में घुटन एवं प्रतिबन्द्धता का असह्य वातावरण बन गया। अत: विद्रोह के रूप में स्वच्छन्तावादी प्रवृत्तियों को भी प्रश्रय मिलने लगा। सैण्ट एब्रमो जैसे व्यक्तियों ने उस विद्राह का नेतृव्य किया। उन्होंने सन्तुलन पर और मानवीय चेतनाओं के स्वाभाविक वर्णन पर सभी दृष्टियों से विशेष बल दिया। वैज्ञानिक अध्ययन, मनन और युगीन पृष्टभूमि तथा परिवेशो पर भी इनके प्रयत्नों से विशेष बल दिया जाने लगा।

पोप कवि भी थे, अत: उन्होंने परम्परागत सिद्धांतों का नये रूप में प्रतिपादन किया। लगभग यही कार्य डा० जानसन ने भी किया। इनमें सत्रहवीं शती के नव्य शास्त्रयों जैसी अनुकरण की प्रवृत्ति नहीं थी अत: स्पष्टत: नवीन प्रवृत्तियों का महत्व देकर प्रभावित करने पर विशेष बल दिया। काव्य शैली के सम्बन्ध में भी इस युग में विशेष संघर्ष की स्थिति रही। फिर भी कहा जा सकता है कि क्रमश: प्रत्यक्ष एवं व्यहाहवर जगत की स्थितियों के कारण विवेक सगमत बातों का अधिकार प्रश्रय मिलता गया।

आधुनिक काव्यशास्त्र– कवि और समीक्षक वर्डस्वर्थ की लिरिकल बैलड्स' नामक सर्जना के प्रकाशन से पाश्चात्य काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आधुनिक युग का आरम्भ होता है। इस कृति ने स्वछतावादी प्रवृतियों को निश्चय की विशेष प्रश्रय दिया। रूसों, गेटे, बॉलोयर आदि के विचार एवं फ्रांस की क्रांति

भी युग को प्रभावित कर रही थी। अंग्रेजी के कॉलरिज, कीट्स शैले आदि कवि इसी युग की देन हैं कि जिसका सभारम्भ 18वीं शती के अन्तिम चरणों से माना जाता है। इन्होंने परम्परागत रूढ़ियों का विरोध करके काव्य में सौन्दर्य काव्य प्रवृत्तियों को अधिकाधिक प्रश्रय दिया। इनका अन्तबोध और यथार्थ बोध दोनों महत्वपूर्ण हैं वर्ड स्वर्थ ने कवि के प्रबलतम मनोद्वेगों और रागों का प्रबल समर्थन किया। दोष-दर्शन कर प्रवृत्ति का भी परिहार किया। वर्डस्वर्थ ने काव्य-गुण काव्य-प्रयोजन, कल्पना, छन्द, भाषा आदि के सम्बन्ध ने अपने सतुंलित विचार प्रकट देकर कवि, कविता, कल्पना, गद्य, काव्य, छन्द आदि के सम्बन्ध में मौलिक विचार प्रकट किये। उन्होंने समीक्षा में नैतिक आधार का भी अनिवार्य महत्व प्रतिपादित किया।

।9वीं शताब्दी से पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में युगानुरूप नव प्रवृत्तियों वैज्ञानिक आविष्कार, मनोविज्ञान के सिद्धान्त, डार्बिन, मार्क्स और फ्रायड आदि के जीवन के निकटतर आता गया।

आधुनिक काव्य को अपने सिद्धान्तों से अत्यधिक प्रभावित करने वाले काव्य-शास्त्रियों में आई.ए. रिचड्र्स और टी.एस.इलियट के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। रिचड्र्स ने काव्य-प्रयोजन, साहित्य और विज्ञान, कला, कल्पना, कला और नीति तथा आलोचना आदि सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं समर्थन युगीन प्रवृत्तियों तथा मान्यताओं के अनुरूप ही किया है। इसी प्रकार इलियट ने क्लासिकवाद, वस्तुनिष्ठ समीकरण, कला की निवैयक्तिकता और काव्य-भाषा आदि विषयों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। बीसवीं शती के आरम्भ में इरविंग बेबिट जैसे नीतिवादी काव्यशास्त्रियों ने पाश्चात्य समीक्षा को नई गति-दिशा प्रदान की। क्रोचे का अभिव्यंजनावाद भी विशेष महत्त्व रखता है। मार्क्स ने व्यक्ति को महत्त्व न देकर समाज को महत्त्व दिया है। आज उन्हीं दो का प्रभाव पाश्चात्य साहित्य पर ही नहीं भारतीय साहित्य पर भी सर्वत्र दिखाई देता है।

1.6 उपसंहार

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र के इस ऐतिहासिक विवेचन के बाद अन्त में हम यही कहना चाहते हैं कि आज का भारतीय काव्य शास्त्र या अलोचना पद्धतियों मान्यतओं और परम्पराओं के प्रति नितान्त उपेक्षा का भाव अभी तक नहीं आया है। साहित्य के विधात्मक स्वरूपों के समान काव्यशास्त्रीय नियमों में भी आन्तरिक आदान-प्रदान हुआ है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

बोध प्रश्न

1. पाश्चात्य साहित्य के विकास क्रम का संक्षिप्त परिचय दीजिए?

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

2. काव्य शास्त्र का उदय काल बताइए।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

3. प्लेटो के प्रमुख शिष्य का नाम बताइए।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

सारांश

भारतीय काव्य शास्त्र की कांति ही पाश्चात्य काव्य शास्त्र का इतिहास बहुत पुराना माना जाता है। इस पर विद्वानों के एक मत नहीं है। विद्वानों का मानना है कि जिस दिन व्यक्ति के ही हृदय में ज्ञान प्राप्ति का कौतूहल जगा रहस्यमयता के कारण मानव के मन में विविध भाव उत्पन्न हुए और अपने उसकी पूर्ति के लिए विविध साधनों का सहारा लिया उसी दिल से मानव की स्वभावश प्रेरणा से समीक्षा का शास्त्रीय विवेचनाओं के युग का शुभारम्भ हो गया। अत: पाश्चात्य काव्य शास्त्र का उदय ईया से 347-427 ई॰ पूर्व यूनानी विचारक प्लेटों से ही माना जाता है। प्लेटो के बाद उसके प्रमुख शिष्य अरस्तू से अपने गुरू की मान्यताओं को नकारते हुए अपने विचार रखे। आधुनिक काव्य सिद्धान्तों का प्रभावित करने वालों में आई रिचड्र्स एवं टर॰ एस॰ इलियट आदि प्रमुख हैं।

खंड

2

प्लेटो : काव्य सिद्धान्त, अनुकरण सिद्धान्त

पाठ का प्रारूप

2.1 उद्देश्य
2.2 भूमिका
2.3 काव्य सिद्धान्त
2.4 प्लेटो के अनुकरण सम्बन्धी विचार सिद्धान्त
2.5 उपसंहार
❑ बोध प्रश्न
❑ सारांश

2.1 उद्देश्य

इस खंड के अधययन के पश्चात्-विद्यार्थी योग्य होगें-

- काव्य सिद्धान्त को समझने में।
- प्लेटो के अनुकरण सम्बन्धी विचार सिद्धान्त को समझने में।
- प्लेटों से पूर्व को समझने में।
- उपसंहार को समझने में।

2.2 भूमिका

कुछ पाश्चात्य काव्य शास्त्रियों का मानना है कि काव्य का प्रयोजन लोकमंगल की भावना है। इन विचारों के प्लेटो, रहकिल टालस्हय आदि मुख्य है। इसके विपरीत दार्शनिक, समाज सुधारक प्लेटों का विचार है कि लोकमंगल की भावना के ही प्रेरित होकर काव्य का सृजन नहीं होता। वह रहता है मानसिक विक्षिप्तता को कला का हेतु माना जाना चाहिए। यह प्रतिभा को काव्य हेतु रहते हैं।

2.3 काव्य सिद्धान्त

पहला वर्ग उन आचार्यों का है जो लोक-मंगल को ही काव्य का प्रयोजन मानते हैं। प्लेटो, रस्किन, टॉलस्टाय इस वर्ग के प्रमुख प्रतिनिधि आचार्य हैं। प्लेटो दार्शनिक, समाज-सुधार और आदर्शवादी राजनीतिज्ञ थे। इन्होंने उन सभी कवियों का–होमर का भी–तिरस्कार किया है जो लोक-मंगल की भावना लेकर काव्य-सृजन में

प्रवृत्त नहीं हुए हैं। अपनी मान्यता को स्पष्ट शब्दों व्यक्त करते हुए इन्होंने कहा है 'कला का सही कार्य आत्मा के समक्ष उन प्रतिमाओं को रखना है जो आन्तरिक रूप से महान और सुन्दर हैं।' रस्किन ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वही काव्य ग्राह्य हो सकता है जिसमें अधिकाधिक मनुष्यों का हित निहित हो।

महात्मा टॉलस्टाय कला को मानव-एकता का महत्त्वपूर्ण साधन मातने हुए लिखते हैं कि कला आनन्द नहीं है, वनन् मानव-एकता का साधन है जो मानव मानव को सहानुभूति द्वारा परस्पर मिलाती है।' स्पष्ट है कि इस वर्ग के आचार्यों ने लोकमंगल को ही काव्य का प्रयोजन माना है और स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि जिस काव्य में लोकमंगल की भावना का अभाव है, जिस काव्य में जीवन और समाज का यथार्थ तथा आदर्श चित्रण नहीं है, वह काव्य हेय है। ऐसे काव्य के रचयिता कवि को समाज से बहिष्कृत कर देना ही समाज के लिए श्रेयस्कर है।

आचार्य अरस्तू ने काव्य के दो प्रयोजन माने हैं– शिक्षा (ज्ञाप का अर्जन) और आनन्द। अपने गुरु प्लेटों द्वारा काव्य पर किये गये आक्षेपों का निराकरण करते हुए इन्होंने लिखा है कला का विशिष्ट उद्देश्स आनन्द नीति सापेक्ष है। ड्राइनल ने आनन्द को काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है और शिक्षा को उसका गौण प्रयोजन बताया है।

बात का प्रतिपादन करते हुए ब्रैडलै ने लिखा है– 'इनको (काव्य और जीवल को) एक ही वस्तु के दो विभिन्न रूप कहार जा सकता है। एक के पास सार्थकता (प्रचलित अर्थ में है) है, किन्तु कल्पना को उससे शायद ही परितोष मिलता है। दूसरे के पास कल्पना को उससे शायद ही परितोष मिलता है। दूसरे के पास कल्पना को परितोष देने की सामग्री है, किन्तु पूर्ण यथार्थ नहीं है। ये समानान्तर विकसित रूप हैं जो परस्पर कहीं नहीं मिलते हैं।

प्लेटो ने मानसिक विक्षिप्तता को काव्य-हेतु मानते हुए लिखा है– ''एक और प्रकार की विक्षिप्तता उन लोगों की है जो काव्य-देवी से आविष्ट होते हैं– वह किसी सुकोमल एवं अक्षत आत्मा को अभिभूत कर लेती है और उसमें उत्माद का संचार करती हुई प्रगति एवं अन्य काव्यों के स्वर जगाती है।'' प्लेटो काव्य का जन्म कवि के मन विक्षेप से मानते हैं, किन्तु यह विक्षेप एक प्रकार की देवी-प्रेरणा का ही परिणाम होता है। इस प्रकार प्रकारान्तर से प्लेटो भी प्रतिभा को काव्य-हेतु मानते हैं। प्लेटो का समूचा विवेचन विशेष आग्रहों एवं बद्धमूल परम्पराओं पर आधारित है।

प्लेटो से पूर्व– प्राचीन काल से ही काव्य के सम्बन्ध में यह धारणा रही है कि दैवी-प्रेरणा से उद्भूत होता है। इसीलिए पश्चिम में काव्य की अधिष्ठानी दैवी 'Muse' भारत में सरस्वती, शारदा आदि की वन्दना काव्यारम्भ में हो जाती रही है। यदि तुलसी ने 'रामचरितमानस' के आरम्भ में 'वाणीविनायकौ' की वन्दना का है, तो विद्रोह के कवि निराल ने भी वीणावादिनी से वर मांगा है। जहाँ यूनान के विद्वानों ने कवि को केवल निष्क्रित माध्यम माना है, जिसके द्वारा ईश्वर आपना संदेश देता है और कवि को न तो कला का ज्ञान होता है औन न काव्य सर्जन के लिए सचेत कलात्मक प्रयास करता है, वहाँ भारत के कवि को कहीं तो निष्क्रिय माध्यम नहीं स्वीकार किया गया है। यहाँ तो वाणी के प्रसाद का केवल यही अर्थ है कि दैवी कृपर को काव्य शक्ति या नवनमोन्मेषशालिनी प्रतिभा प्राप्त होती है और उसकी सहायता से वह महान काव्च लिखता है भारतीय मनीषियों को यह मत ग्रीक विद्वान पिन्डारस के अधिक निकट है। वह यह मानता है कि प्रेरणा (का महत्व कला की अपेक्षा अधिक प्रेरणा के अभाव में कला का कोई मूल्य नहीं; पर प्ररेणा से उसका तात्पर्य कवि की प्राकृतिक शक्ति और उसके सजग प्रयत्न से था, न कि कवि की निष्क्रियता से। वस्तुत:

बात भी यही है। कवि सहज प्रतिभा से ही उत्कृष्ट कोटि का काव्य लिख सकता है। "Pote" re born not made." उक्ति सत्य है, परन्तु कवि नितान्त निष्क्रिय (passvie) नहीं होता।

प्लेटो ने लिखा था कि कविता और दर्शन का झगड़ा पुराना है। उसका कथन काव्य प्रयोजन सम्बन्धी उस विवाद की ओर संकेत करता है जो उनके पूर्व से चला आ रहा था। होमर से अपनी रचनाओं में कई स्थलों पर इस बात को आग्रहपूर्वक कहा है कि काव्य का लक्ष्य आनन्द देना है और कवि यह आनन्द कलात्मक भ्रम (Illusion of art) द्वारा उत्पन्न करता है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए उसने ऐशिलीज (Achilles) की ढाल पर उरेहे चित्र का उदाहरण दिया है। जिस प्रकार चित्रकार ने अपनी कला से स्वर्ण की ढाल पर भी हाल कर जोती जमीन की काली मिट्टी का भ्रम उत्पन्न कर दिया (And behind the plugh the earth went a very mircale of his craft.), उसी प्रकार कवि अपनी कला से अवास्ताविक को वास्ताविक बना देता है या कुछ क्षणों के लिए पाठक और श्रोता में वह कलात्मक भ्रम पैदा कर देता है।

प्लेटो से पूर्व काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में दो मत थे– एक आनन्द को तथा दूसरा शिक्षा को प्रधानता दे रहा था। अरिस्टोफेनिस से अपनी नाट्य कृति 'Forgs' द्वारा इन दोनों मतों का समन्वय करने का प्रयास किया।

गार्गियस (Gorgias) में शब्द शक्ति की महत्ता पर प्रकाश डाला गया। उसका सुव्यवस्थित आरम्भ प्लेटो से ही होता है।

प्लेटो दार्शनिक होते हुए भी कवि-हृदय सम्पन्न था। उसने महान कवियों के काव्य का अध्ययन किया था। होमर के सम्बन्ध में वह लिखता है–

"I confess I am checked by a kind of affectionate repect for homer..... for all those beautiful treagic poets, he seems to have been the original master and guide."

वह दार्शनिक था, सत्य का उपासक और तर्क (reason) का हिमायती था। उसने सत्य की रक्षा के लिए ओर दर्शन की वेदी पर अपने कवि हृदय की बलि चढ़ा दी और दूसरी ओर अपने श्रद्धा-पात्र होमर की यह कहकर निन्दा की–

" It would be wrong to honour a man of the expense of Turth."2

प्लेटो को केवल बौद्धिक आनन्द स्वीकार था उसे काव्यजन्य आनन्द, जिसका सम्बन्ध इन्द्रियों से है, उसे मान्य था। प्लेटो अन्त:कारण से मानता था कि उसके काल का काव्य उत्तम नहीं है उसका विश्वास था कि जनता की कलाओं के प्रति आसक्ति राज्य के निलए अहिकर है।

प्लेटों का मत है (और यह ठीक भी था) कि उसके समय की कविता मनोंरजन के लिए लिखी जाती थी और ग्रीक लोगों के अस्वस्थ्य मनोवेगों को उभारती थी। उसके अपने मत की पुष्टि में अल्पतन्त्र (Oligarchy) के युवक का उदाहरण भी दिया है, जो मनोरज़ंन के पीछे भागता है, सभी प्रकार के सद्परामर्श की उपेक्षा करता है और निरुद्देश्य जीवन बिताता है।

प्लेटो आदर्शवादी सुधारक था और वह प्रत्येक ऐथेन्सनिवादी को आदर्श नागरिक बनाना चाहता था। उसके

मतानुसार मनुष्य के दो धर्म हैं– बतौर विशिष्ट व्यक्ति के उसे सत्य की प्राप्ति के संलग्न रहना चाहिए और बतौर समाज के सदस्य के उसे सदाचारी होना चाहिए।

वह कविता को उसी सीमा तक ग्राह्य मानता था जिस सीमा तक वह राज्य तथा मानव-जीवन के लिए लाभप्रद हो। उसले स्पष्ट लिखा है– "It shall be no argument that a poem or poet is charning admirable or even sacred—vain arguments of aesthetics."4

काव्य सत्य– प्लेटो उसके अनुसार प्रत्यय (idea) की परंम सत्य है। यह दृश्यमान वस्तु जगत् प्रत्यय (परम सत्य) का अनुकरण है। सत्य वह है जिससे समाज और व्यक्ति के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को बल मिले। इसके विपरीत जो कुड भी हो। काव्य को भी वह इसी कसौटी पर पखरता है।

उसका कहना है कि ईश्वर ऐसे ही सामान्य आदर्श का कर्त्ता है, न विशेष विशिष्ट सत्य विश्वजनीन (particular idea) सत्य है। सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त सौन्दर्य शिवल्य सत्य एवं आनन्द का आदर्श एक-एक है।

उदाहरण के लिए, होमर के काव्य में नायक को रोते और छाती पीटते दिखाता गया है। जीवल में हम इसे अच्छा नहीं समझते; हमारा विवेक हमें ऐसा करने से रोता है, पर काव्य में हम यह सब पढ़ आनन्द पाते हैं। अत: उसने कहा कि काव्य का सत्य वास्तरविक सत्य नहीं होता।

"What are far removed from reality"

वह कविता को अज्ञान से उत्पन्न मानता है कवि जिस वस्तु का अनुकरण करता है, उसकी प्रकृति से परिचित नहीं होता। जैसे पलंग का चित्र बनाने वाला चित्रकार मूल पलंग की प्रकृति से न तो पूर्ण परिचित ही होता है। और न उसका स्वरूप ही सचाई से अंकित की पाता है इसी प्रकार त्रासदी-लेखक न तो अपने अनुकार्य की प्रकृति से परिचित होता है और न उसका स्वरूप ही अंकित कर पाता है। अत: उसका अज्ञान जन्य होता और उसका सत्य भ्रामक।

प्लेटो का मत था कि कवि यश और कीर्ति चाहता है इसके लिए वह पाठकों या श्रोताओं की वासनाओं का उत्तेजित कर लोकप्रिय बनता है।

साशंय यह है कि कवि आत्मका के विवेकपूर्ण अंश को प्रसन्न करने या प्रभावित करने के लिए लिखता और न ऐसर करना वह काव्य को प्रायोजन ही मानता है। इसीलिए त्रासदी के सम्बन्ध में प्लेटो ने लिखा था, "ट्रैजेडी का लेखक हमारे विवेक को नष्ट का हमारी वासनओं को जाग्रत करता है, उनका पोषण करता है।"

वह साहित्य में आनन्द को प्रमुख तत्व नहीं मानता था, उसके लिए बुद्धि का आनन्द ही एकमात्र ग्राह्य आनन्द था, जिसमें ऐन्द्रियता का कालुष्य न हो।

सद्काव्य के गुण– वह काव्य में सरलता पर बल देता था। सरलता से उसका अभिप्राय था– न्याय के सिद्धांत का पालन– "Nothing must be tolearated which does not expres the soveriegn image of justice."

वह काव्य में उद्देश्य की एकता, अन्विति तथा लयात्मकता पर भी बल देता था।

उसने कवियों को परामर्श दिया है कि देवताओं के चरित्र के सद्गुणों सच्चाई, शील और दृढ़ता का ही वर्णन इसी दृष्टि से उसने साहित्य के दो भेद किये हैं– सद्साहित्य और असद्साहित्य। सद्साहित्य के अन्तर्गत वह

देवस्तुति तथा सज्जन प्रशंसा को लेता है। असद्साहित्य उसकी दृष्टि में वह है जिसमें यथार्थ का निराकरण हो, दन्त कथाएं करें, तो वह उन्हें सद्साहित्य के अन्तर्गत रखने को तैयार हैं। उसका मत था कि कल्पना द्वारा कवि झूठे बिम्ब और चित्र प्रस्तुत करता है; उनसे ऊपरी तृप्ति हो तो सकती है, पर आत्मा परिष्कृत या उदात्त नहीं बन सकती।

भाव-उच्छलन के भी वह विरुद्ध था, साहित्य पढ़ते समय व्यक्ति ऐसे भावों को व्यक्त करता है, ऐसा आचरण करता जिन्हें करने में वह अन्य अवसरों पर लज्जा अनुभव करेगा। उदाहरण के लिए, रंगमचं के नायक को मानता है। उसने होमर आदि की कृतियों से उन अंशों को निकाल देने का परामर्श दिया है का अतिरक है।

उसने कवि में तीन बातों को होना अनिवार्य माना है– (क) प्राकृतिक शक्ति, (ख) आवश्यक नियमों का ज्ञान, और (ग) अभ्यास भारतीय आचार्यों ने भी उन्हें प्रतिभा, व्युपत्ति और अभ्यास नाम देकर इन्हें स्वीकार किया है।

कवि को यह समाज का सेव मानता है उसका कवि वह ज्ञानी पुरुष है जिसने जन्म-जन्मान्तर दस हजार वर्ष तक *अध्यात्मशास्त्र का मनन अलौकिक मूल स्वरूप जानता हो।*

यदि नाटक देखना ही हो, तो असमें अच्छे मनुष्यों को ही अभिनय द्वारा प्रस्तुत किया जाना चाहिए। दुष्टकृत्यों को केवल वर्णन होना चाहिए, अभिनय नहीं। उदाहरण के लिए, एशिलीज या ओड़ीसस अपने विचार मंच पर ही व्यक्त कर सकते हैं, पर पैरिस या थरसिटीज नामक दुष्ट पात्र नहीं। वह यद्यपि स्वीकृति देता है, पर आख्यान काव्य तथा नाटक सभी काव्यरूपों को अपनाने की स्वीकृति देता है, पर आख्यान काव्य तथा नाटक सभी काव्यरूपों को स्वीकृति देता है, पर आख्यान काव्य ही उसे सार्वधिक उपयुक्त काव्य रूप प्रतीत होता है। "..... but there will be little of the former (imitative) and a great deal of the latter (Narrative). वह *नीतुसपदेशाद* (didacticism) के विरुद्ध है। उसने 'दि रिपब्लिक' में स्पष्ट कहा है– "The first business of art is to open men's eyes of the beauty of things, to what is geat and noble in buman nature. and then with its gracious effluences it invades man's soul. and like some health giving breeze. it nurtures in them what is good and nobe."

उसके लिए सद्साहित्य वह है जो मानव स्वभाव का सच्चा चित्र इस प्रकार प्रस्तुत करे कि उससे मानव स्वभाव में जो कुछ भी महान् (great and noble) है, उसका सम्बर्द्धन हों।

केवल उसी कला की निन्दा करता है तो अपने कर्त्तव्य को या तो समझती नहीं या गलत समझती है। अपने द्वितीय कोटि के आदर्श राज्य (second best state) में वह उन कवियों को स्थान देने के लिए तैयार है जो अच्छे व्यक्तियों का चित्रण करते हैं। वह कुछ शर्तों के साथ त्रासदी को भी स्वीकार करता है और उस कामदी के भी पक्ष में है।

जैसा कि हम कवि सम्पूर्ण काव्य का बहिष्कार नहीं करता; उसकी कलात्मक उत्कृष्टता के मूल्यांकन का मानदण्ड सत्य की अनुकूलता है।

प्लेटो के दोष– प्लेटो का यह कथन तो ठीक है कि कवि वास्ताविकता से कुछ कम की रचना करता है, पर वह यह भूल जाता है कि कवि वास्ताविकता से कुछ अधिक भी तो देता है। कला में निहित सर्जनशीलता को न समझ पाना उसने काव्य को हृदय का व्यापार नहीं माना, भाव एवं कल्पना के स्थान पर अनुकरण को

महत्व दिया, कला-कौशल को सिद्धि मानकर आत्मतत्व की उपेक्षा की, वस्तु के आदर्शीकरण की बात को भुला दिया।

दूसरे, उसने कला की दृष्टि से न देखकर समाज कल्याण की दृष्टि से परखा है। नीति की पुस्तक का कार्य उपदेश देना है, कलाकृति का यह लक्ष्य नहीं होता। शैले ने "In Defence of Poesia" में प्लेटो का विरोध किया। प्लेटो की दृष्टि वस्तुपरक थी, दार्शनिक तथा सुधारक की थी, अत: उसका ऐसा मत होना स्वाभाविक ही था।

प्लेटो की देन– उसने कला की प्रकृति के विषय में कुछ ऐसी बातें कहीं हैं, जो हमें सोचने के लिए बाध्य करती हैं और जिन पर मनन विवेचन कर आगे के काव्य शास्त्रियों ने सत्य का दर्शन किया। कला में अनुकरण और आनन्द-तत्व की बात सर्वप्रथम उसी रो कही। कलाओं के पारस्परिक सम्बन्धों और वर्गीकरण पर उसी ने प्रकाश डाला।

उसी ने पहली बार ललित कलाएं और उपयोगी कलाएँ।

कलाओं में आदर्श की– न्याय सौन्दर्य और सत्य की प्रतिष्ठा की बात भी उसी ने की जो बहुत बाद मानी जाती रही।

प्लेटो के काव्य प्रेरणा (nature of poetry) विचारों से काव्य की प्रकृति (nature of poetry) पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा। उसने विक्षिप्ता के दो भेद बताए– एक तो शारीरिक दुर्बलता से उत्पन्न और दूसरी वह जिसमें आत्मा रीति-रिवाज तथा परम्पाओं के बन्धन से मुक्त हो जाती है। कला की साधना के सम्बन्ध में भी उसने कतिपय नई बातें बताई हैं। काव्य हेतुओं की ओर संकेत करता हुआ वह प्राकृतिक शक्ति (natural gift) कला के नियमों का ज्ञान, मनोविज्ञान का परिचय, अध्ययन और अभ्यास को महत्व देता है। कृति में आंगिक-कान्विति (organic unity) के सिद्धांत का भी प्रथम प्रतिष्ठाता वही है। विरेचन-सिद्धांत के संकेत भी उसके वचनों में पाए गए हैं। करुण रस के आस्वाद पर भी उसने संकेतात्मक शैली में अपने विचार प्रकट किए हैं। अभिहस्य पर भी उसके विचार महत्वपूर्ण हैं। भाषकला से सम्बन्धित उसके सुझाव– विषय का पूर्ण ज्ञान अभ्याय, व्यवस्थित विचार और भाषा, श्रोताओं के मनोवैज्ञानिक से परिचय– आज भी लाभदायक हैं। काव्य के माध्यम से भाव तादात्म्य की चर्चा उसके 'इओन' नामक संवाद साधानीकरण' सिद्धांत की प्रतिष्ठा करती है। काव्यस्वाद के लिए रना में निबद्ध कवि की अनुभूति के साथ चारण, अभिनेता, एवं प्रमाता का भावतादात्मत्य वह अनिवार्य मानते है।

साहित्य में काव्यगत न्याय के सिद्धांत का प्रतिष्ठाता भी प्लेटो ही है। उसकी दृष्टि में कला या काव्य का प्रथम तथा प्रधान कार्य प्रभावित करना है, उपदेश देना नही। वह कला जीवन के लिए' सिद्धांत से उतना ही दूर है जितना कला कला के सिद्धांत से।

प्लेटो का प्रथम आचार्य होने के नाते ऐतिहासिक और काव्यशास्त्रीय महत्व भी है; उसे ऐसी सामग्री प्रदान करने का श्रेय भी है। जिसने आगे के काव्यशास्त्रियों को आगे बढ़ाने की प्रेरणा दी। एटकिन्स से उनके विषय में कहा है– *It may fairly be said that with him literary theory really beings. What he did was to make* later criticism effort, and at the same time he supplied ideas for generations to come."

प्लेटों के वक्तयों में कहीं-कहीं विरोध पाया जाता है– कहीं वह अपने आदर्श राज्य में कवि को बहिकृष्त

करने की बात कहता हैं, तो कहीं काव्य की प्रशंसा करता है। 'Republic' में उसने त्रासदी तथा महाकाव्य के कुछ भेदों की प्रशंसा की है।

2.4 प्लेटो के अनुकरण सम्बन्धी विचार सिद्धान्त

प्लेटो गणितज्ञ था, अत: वह विचार से वस्तु की ओर अग्रसर होता था। उसके सम्मुख रेखा का 'आदर्श' पहले उपस्थित होता है, प्रत्यक्ष रेखा बाद में रूपायित होती है। वह मानता था कि अथक परिश्रम और प्रयत्न करने पर भी आदर्श रेखा नहीं बन पाती, अनुकरण अधूरा ही रहता है।

प्लेटो के अनुसार ईश्वरकृत मूलादर्श (Ideal) ही वास्तविक सत्ता है और इन मूलादर्शों का एक सूक्ष्म जगत् है। स्थूल संसार उसी सूक्ष्म जगत् का अपूर्ण अनुकरण है। ईश्वर उदार है, अत: उसने मूलादर्श को सांसारिक वस्तुओं में प्रविष्ट कर दिया है। उसका विश्वास है कि यह दृष्यमान जगत् वैचारिक आदर्श जगत् की प्रतिकृति है। भारतीय प्रतिबिम्बवाद भी कुछ इसी प्रकार का मत व्यक्त करता है। अत: प्लेटो भी कहते हैं– ''यदि परमात्मा है, तो ब्रह्मांड उसकी अनुकृति है, यदि पदार्थ है, तो उनकी प्रतिछायाएँ अनुकृतियाँ हैं।''

प्लेटो नें दैवी कलाओं (Divince Arts) को दो वर्गों में बांटा है– प्राकृतिक पदार्थ जो परमात्मा के द्वारा उद्‌भूत हुए हैं तथा उनकी प्रतिकृति जो हमें स्वप्न में अथवा जल में प्रतिबिम्बित होते दिखाई देते हैं। अनुकरणात्मक कला के भी दो भेद हैं–(i) Copy-making या Photo-graphic art तथा (ii) Fantastic art। प्रथम में चित्रकार उतनी ही लम्बी-चौड़ी-ऊँची मेज का चित्र अंकित करता है। जितनी उसके सम्मुख है, दूसरी में वह सामने रखी मेज को उस अनुपात में चित्रित करता है जिससे वह सुन्दर लगे। वह पहले चित्र को ब्वचल तथा दूसरे को चचमंतंदबम या चींदजेंउ कहता था। इस प्रकार उसके अनुसार वस्तु के तीन रूप होते हैं– आदर्श, वास्तविक तथा अनुकरणात्मक। प्लेटो की दृष्टि में मूलादर्श ही महत्त्वपूर्ण है और चूँकि कलाकार की कृति उससे दुगुनी दूरी पर होती है। फिर कलाकार का सम्बन्ध उन वस्तुओं से होता है, जो प्रतिक्षण बदलती रहती हैं जो कभी बड़ी तो कभी छोटी, कभी गर्म तो कभी ठंडी, कभी मधुर तो कभी कटु लगती है, जबकि मूलादर्श एक और अपरिवर्तनशील होता है। कला-कृति में सारभूत या विशुद्ध सत्य का अंश मात्र होता हे, उसकी बाह्य छाया-मात्र होती है। प्लेटो कला को जिसका आधार अनुकरण है मनोरंजन का एक प्रकार मानता है, न कि गंभीर कार्य इसलिए भी वह अनुकरणात्मक कला को महत्त्व नहीं देता।

2.5 उपसंहार

यदि हम उपर्युक्त सभी प्रयोजनों पर दृष्टि रखकर इनका विभाजन करें तो इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है– आतंरिक प्रयोजन और बाह्य प्रयोजन। आनंद प्रदान करना काव्य का आंतरिक प्रयोजन है और शेष सब बाह्य प्रयोजन हैं। यदि बाह्य प्रयोजनों का विशेषण किया जाये तो उनकी परिगति भी अंततोगत्वा आनन्द में ही होती है, क्योंकि धन, यश, सुधार, उपदेया, जीवन से पलायन मनोविनोद आदि आदि आनन्द के ही साधन हैं। अत: कहा जा सकता कि आनन्द ही काव्य का मूल प्रयोजन है। प्रकारान्तर से पाश्चात्य विवेचकों एवं आचार्यों ने भी आनन्द वाद को ही प्रमुखता दी है, यद्यपि उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुपरक प्रयोजन भी उपेक्षणीय नहीं हैं।

बोध प्रश्न

1. लोक मंगल काव्य का प्रयोजन मानने वाले दो प्रमुख काव्य शास्त्रियों के नाम लिखिए।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

2. प्लेटो ने देवी कलाओं को कितने मार्गों में बाँटा है? इसे स्पष्ट कीजिए।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

सारांश

रास्किन का कहना है कि वही काव्य मान्य ग्रहणीय होता है जिसमें मनुष्य का आधिकाधिक हित निहित होता है। प्लेटो मानसिक विक्षिप्रता को काव्य का हेतु मानते हुए कहता है कि काव्य का जन्म कवि के मन विक्षेप से होता है। प्लेटो का मानना है कि ईश्वर कृत मूलादर्श हीवास्ताविक सत्ता है और इन मूलादर्शों का सूक्ष्म जगत होता है। स्थूल संसार उसी का अनुकरण करता है। ईश्वर ने उदारता वशं उस मूलादर्श को सासंरिक वस्तुओं में निहित कर दिया। उसके अनुसार ''यदि परमात्मा है तो कर्मकाण्ड उसकी अनुकृति है। यदि पदार्थ है तो उनकी प्रतिछायाएँ अनुकृतियाँ हैं।

खंड

3

अरस्तु के काव्य सिद्धान्त

पाठ का प्रारूप

3.1 उद्देश्य
3.2 भूमिका
3.3 अनुकरण सिद्धान्त
3.4 विरेचन सिद्धान्त
3.5 स्वरूप व अर्थ
3.6 धर्मपरक अर्थ
3.7 नीतिपरक अर्थ
3.8 कलापरक अर्थ
3.9 त्रासदी विरेचन
3.10 उपसंहार
❑ बोध प्रश्न
❑ सारांश

3.1 उद्देश्य

इस खंड के अधययन के पश्चात्-विद्यार्थी योग्य होगें-

- अनुकरण सिद्धान्त और विरेचन सिद्धान्त को समझने में।
- स्वरूप व अर्थ और धर्मपरक अर्थ को समझने में।
- नीतिपरक अर्थ और कलापरक अर्थ को समझने में।
- त्रासदी विरेचन और उपसंहार को समझने में।

3.2 भूमिका

अरस्तू ने काव्य को दार्शनिक, राजनीतिक तथा नीति शास्त्री के अत्याचार से मुक्ति दिलायी। वह प्रत्येक कलाकृति को सौन्दर्य की वस्तु मानता है। अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकृति बताता हो कला प्रकृति का अनुकरण करती है।

3.3 अनुकरण सिद्धान्त

अनुकरण की व्याख्या, प्लेटो और अरस्तु की अनुकरण विषयक धारणा, दोनों के अनुकरण विषयक विचारों की तुलना।

अरस्तु ने काव्य-कला को विशुद्ध दार्शनिक, राजनीति तथा नीतिवाद की दृष्टि से न देखकर सौन्दर्य शास्त्र की दृष्टि से देखा और इस प्रकार जेम्स के शब्दों में, ''उसने काव्य को दार्शनिक, राजनीतिज्ञ तथा नीतिशास्त्री के अत्याचार से मुक्त किया। उसने प्रत्येक कला-कृति को सौन्दर्य की वस्तु माना।

अरस्तु ने प्लेटो द्वारा प्रयुक्त 'Mimesis' शब्द तो स्वीकार किया पर उसे एक नवीन अर्थ प्रदान किया। प्लेटो ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग हू-ब-हू नकल करने के अर्थ में किया था, अरस्तु ने उसका एक सीमित तथा निश्चित अर्थ ग्रहण किया। बूचर के शब्दों में ''अरस्तु ने अपने युग में प्रचलित 'कला अनुकरण है' इस सूत्र को तो स्वीकार किया, किन्तु उसकी नवीन व्याख्या की।''

अरस्तु कला को प्रकृति की अनुकृति मानता है। ''कविता सामान्यत: मानवीय प्रकृति की दो सहज प्रवृत्तियों से उद्‌भूत हुई जान पड़ती है। इनमें से एक है अनुकरण की प्रवृत्ति। कला प्रकृति का अनुकरण करती है। वह प्रस्तुत वस्तु को ऐसा रूप प्रदान करता है कि उससे उस वस्तु के विश्व व्यापक (universal) और आदर्श (Ideal) रूप का बोध हो जाये। इस प्रकार अरस्तु के अनुसार अनुकरण एक सर्जन-क्रिया है। एबरक्रोम्बे के अनुसार ''अरस्तु ने कविता में अनुकरण का वही अर्थ ग्रहण किया जो अर्थ आजकल हम तन्त्र या शिल्प (technique) का मानते हैं।'' ''अनुकरण वह तन्त्र है जिसके द्वारा कवि अपनी कल्पनात्मक अनुभूति की प्रक्षेपणीय अभिव्यक्ति को अन्तिम रूप प्रदान करता है। सारांश यह है कि अनुकरण का अर्थ हू-ब-हू नकल (mimicry) नहीं, बल्कि संवेदना, अनुभूति, कल्पना, आदर्श आदि के प्रयोग द्वारा अपूर्ण को पूर्ण बनाना है।

यूनानी भाषा के मिमेसिस (Mimesis) शब्द का अंग्रेजी में रूपान्तर किया गया है– इमिटेशन (Imitaion) और हिन्दी में उसका अनुवाद है– *अनुकरण काव्य में प्रकृति और कला के तत्वों का पारस्परिक अनुपात निर्धारित करने का प्रयत्न किया।*

प्राचीन यूनान में यह माना जाता था कि कला सच्चे रूप में अनुकरणात्मक होती है सॉक्रेटीज और उनके बाद विचारकों ने इस बात की पुष्टि यह कहकर की कि कविता की ध्वनियाँ जीवन की ध्वनियाँ की नकल है और कविता की गतियां जीवन की गतियों की नकल। प्लेटो के पूर्ववर्ती कला को अनुकृति मानते थे, न स्वतन्त्र रचना। प्लेटो पर इन विचारों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, अत: उसने भी कला को अनुकृति माना है।

प्लेटो के भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में अनुकरण शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है। एटकिन्स के अनुसार कहीं उसने इस शब्द का प्रयोग सस्ती नकल के अर्थ में किया है तो कहीं कल्पना की रचनात्मक शक्ति के अर्थ में–

The varied meanings of this word range from a cheap copying to the creative activity of imagination.

वह अनुकरण द्वारा वास्तविक वस्तु (something that is) तथा जो वस्तु उसकी अनुकृति है (something made like it) के बीच स्थायी सम्बन्ध की ओर संकेत करता है। यह स्थूल संसार सूक्ष्म जगत् का अपूर्ण अनुकरण है– 'यदि परमात्मा है, तो ब्रह्मांड उसकी अनुकृति है; यदि पदार्थ हैं, तो उनकी प्रतिच्छायाएं अनुकृतियों हैं, सयदि मानवकृत शिल्प-वस्तुएं हैं तो उनके चित्र अनुकृतियां हैं।

प्लेटो ने दैवी कलाओं (Divine Arts) को दो वर्गों में बांटा है– प्राकृतिक पदार्थ जो परमात्मा के द्वारा उद्‌भुत हुए हैं तथा उनकी प्रतिकृति जो हमें स्वप्न में अथवा जल आदि में पड़े प्रगतिबिम्बों में दिखाई देती है। इसी प्रकार मानवीय कलाओं के भी उसने दो भेद किए हैं– (i) Copy making या Photographic art तथा (ii) Fantstic art. प्रथम में चित्रकार उतनी ही लम्बी-चौड़ी मेज पर चित्र अंकित करता है जितनी उसके सम्मुख

है, दूसरी में वह सामने रखी मेज को उस अनुपात में चित्रित करता है, जिससे वह सुन्दर लगे। पहले चित्र को copy तथा दूसरे को appearance या phantasm कहता है इस प्रकार उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु के तीन रूप होते हैं– आदर्श रूप, बढ़ई द्वारा निर्मित रूप तथा चित्रकार द्वारा चित्रित रूप। इनमें प्रथम को वह सर्वोत्कृष्ट मानता है। अन्य दो रूपों copy और Phantasm को समझने के लिए प्रथम को जानना आवश्यक है– जब तक हमने चन्द्रमा को नहीं देखा है तब तक जल के पड़े उसके प्रतिबिम्ब को देख हमें उसे पहचान लेने से उत्पन्न आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है।

प्लेटो कला को, जिसका आधार अनुकरण है, मनोरंजन का एक प्रकार मानता है, न कि गंभीर कार्य। इसलिए भी वह अनुकरणात्मक कला को महत्व नहीं देता। उसके अनुसार कवि अपनी कविता द्वारा वीर पुरुष की झांकी तो दे सकता है, पर वीर पुरुषों का निर्माण नहीं कर सकता।

प्लेटो की दृष्टि में कला की उत्कृष्टता के दो आधार हैं– (i) सत्य की अनुकूलता अर्थात् मूल वस्तु का अनुकरण किस सीमा तक हो पाया है। (ii) वह वस्तु जिसका अनुकरण किया गया है, स्वयं अपने आपन में कैसी है– शुभ है अथवा अशुभ। सदा बुरा मानता। उसकी दृष्टि में कविता इसलिए त्याज्य यदि काव्य में सत्य और ज्ञान की पूर्ण प्रतिष्ठा हो, तो वह ऐसे काव्य का स्वागत करेगा।

वह अनुकरण का समर्थन उसी सीमा तक करते हैं जबकि प्रथम तो वह वस्तु जिसका अनुकरण किया जा रहा हो शुभ हो, और दूसरे वह अनुकरण सत्य के समीप हो।

यही कारण है कि 'अनुकरण' के सम्बन्ध में अरस्तू का मत प्लेटो के मत से भिन्न है।

अरस्तू ने प्लेटो प्रयुक्त 'mimesis' शब्द अर्थ दिया प्लेटो ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग हू-ब हू नकल करने के अर्थ में किया था, पर अरस्तू ने उसको एक सीमित तथा निश्चित अर्थ दिया। अरस्तू ने अपने युग में प्रचलित कला अनुकरण है इस सूत्र को तो स्वीकार किया, किन्तु उसकी नवीन व्याख्या की–

"Aristotle..... accepted the current phrase but interpreted it anew."

अरस्तू कला को प्रकृति अनुकृति मानना है– 'कविता सामान्यत: मानवीय प्रकृति की दो सहज प्रवृत्तियों से उद्‌भुत हुई जान पड़ती है। इनमें से एक है अनुकरण की प्रवृत्ति।

अनुकरण का विषय गोचर वस्तुएं न होकर, उनमें निहित प्रकृति-नियम हैं। कवि या कलाकार अवरोधक कारणों को हटाकर प्रकृति की सर्जन क्रिया का अनुकरण करता हुआ प्रकृति के अधूरे काम को पूरा करता है।

इस सम्बन्ध में एबरक्रोम्बे लिखा है कि अरस्तू का तर्क था कि यदि कविता प्रकृति को केवल दर्पण होती, तो वह हमें उससे कुछ अधिक नहीं दे सकती थी जो प्रकृति देती है; परद तथ्य यह है कि कविता का आस्वादन इसलिए करते हैं वह हमें वह प्रदान करती है जो प्रकृति नहीं दे सकती। अनुकरण का अर्थ हू-ब-हू नकल (mimicry) नहीं, बल्कि संवदेना, अनुभूति, कल्पना आदर्श आदि का पूरा द्वारा अपूर्ण हो पूर्ण बनाना है।

अरस्तू काव्य का विषय प्रतीयमान, सम्भाव्य और आदर्श रूप को मानता है। कवि को स्वतंन्त्रता है कि प्रकृति को उस रूप में चित्रित करें जैसी वह उसकी इन्द्रियों को प्रतीत होती है अथवा जैसी वह भविष्य में प्रतीत हो सकती है, अथवा जैसी वह होनी चाहिए।

अरस्तू का मत है– 'कवि और इतिहासकार में वास्ताविक भेद यह है कि उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है। ... काव्य सामान्य की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की।

अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय भावपरक अनुकरण से था न कि यथार्थ वस्तुपरक प्रत्यंकन से उसका निम्न वक्तव्य – "A likely impossibility is always preferable to an unconvincing possibility." 3 भी इसी तथ्य

NOTES

की ओर संकेत करता है वह मानता है कि कवि वस्तुओं को उनके यथावस्थित रूप में वर्णित नहीं करता, अपितु उनके युक्तिपरक रूप में प्रस्तुत करता है। कलाकार अपने कला-माध्यम के अनुरूप आवश्यक तथा सम्भावित तत्व का भी प्रेषण करे।

त्रासदी के विवेचन में अरस्तू ने लिखा है कि मनुष्यों का नहीं वरन् कार्यरत मनुष्यों का और जीवन अनुकरण करती है। अत: कार्य का अर्थ केवल मनुष्य के कर्म ही नहीं, उसके विचार भाव, चरित्र आदि भी हैं जो कर्म के लिए उत्तरदायी होते हैं। अत: यहाँ भी अनुकरण का अर्थ नकल ल होकर, पुन: प्रस्ततीकरण है इसी सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है, कि काव्य में जिस मानव को चित्रण होता है, वह सामान्य मानव से अच्छा भी हो सकता है, उससे बुरा भी हो सकता है और वैसे ही वैसा भी। पर उन्होंने तीसरे वर्ग की चर्चा न कर केवल सामान्य से अच्छे और बुरे की चर्चा की है। इस चर्चा से भी स्पष्ट है कि वह काव्य में प्रकृति के अन्धानुकरण के विरुद्ध थे अत: अनुकरण से उनका अभिप्राय कल्पनात्मक पुन: सृजन था जिसमें कुछ चीजें बढ़ाई जा सकती है, तो कुछ अनावश्यक बातें कल्पनात्मक पुन: सृजन था, जिसमें कुछ चीजें बढ़ाई जा सकती हैं, तो कुछ अनावश्यक बातें छोड़ी जा सकती है। कलाकार अन्विति के नियमों के अनुसार अपनी वस्तु का चुनाव करता है और उसे कलात्मक ढंग से सजाता हैं।

अरस्तू के अनुसार 'अनुकरण' द्वारा वास्ताविक जीवन में भय और दु:ख की अनुभूति प्रदान करने वाली वस्तु को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा जाता है कि उससे आनन्द की उपलब्धि होती है, भय और दु:ख निराकरण हो जाता है। यह अनुकरण निश्चय ही वस्तुपरक अंकन न होकर भावात्मक और कल्पनापरक होगा।

''अरस्तू के 'अनुकरण' शब्द का अर्थ है कि सादृश- विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन, सांकेतिक उल्लेखन नहीं। कना या कविता को मानव-जीवन की सर्वव्यापक तत्व की अभिव्यक्ति मानता हुआ वह अनुकरण को रचनात्मक प्रक्रिया (creative action) मानता है।''

यह सत्य है कि अनुकरण को नया अर्थ प्रदान कर अरस्तू ने कला का स्वंतत्र अस्तित्व स्थापित किया। तथापि उनका अनुकरण सिद्धांत पूरी तरह निर्दोष नहीं है। वह आत्म-तत्व तथा कल्पना तत्व को स्वीकार करते हुए भी वस्तु तत्व को प्रधानता देता है। वह वस्तु को उद्दीपक निमित्त मात्र नहीं मानता, अपितु आधार रूप मानता है। उसमें कवि की अंतश्चेतना को उतना महत्व नहीं दिया जाना चाहिए था।

काव्य की आत्म है भाव (emotion), जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गीति में फूट निकलाता है। उसमें हार्दिकता (spontanceity) तथा वैयक्तिकं अनुभूतियों का प्राधान्य होता है जो अनुकरण की परिधि में नहीं आ सकता।

अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत पर यह आक्षेप भी लगाया गया है कि अरस्तू ने जो शब्द 'memisisi' चुना है वह उपयुक्त नहीं है। उस शब्द की अर्थ परिधि में 'कल्पनात्मक पुनर्निर्माण', पुन'सृजन' के आनन्द की अवस्थिति' आदि अर्थों का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

इस प्रकार प्लेटो के अनुसार, अनुकरण का अर्थ मूलादर्श का अनुकरण था', तो अरस्तू के अनुसार, 'कल्पनात्मक पुनर्निर्माण। उनके बाद के अलंकार- सिसरो, डायोनिसस, क्विन्टीलियन आदि ने उसका अर्थ लगाया- दूसरे कलाकारों का अनुकरण।

आज समीक्षा क्षेत्र में अनुकरण का महत्व काफी कम हो गया है और अनुकरण के स्थान पर कल्पना या नवोन्मेष (Invention) को अधिक महत्व दिया जा रहा है। आज कविता को जीवन को कसौटी पर नहीं कसा जाता, उसका विवेचन और मूल्यांकन स्वतंन्त्र कला-कृति के रूप में होता है। अब उसका मूल्यांकन पाठक या श्रोता पर पड़ने वाले प्रभाव की कसौटी पर होता है।

फिर भी अनुकरण का आग्रह नाटक, कविता, उपन्यास आदि में प्रकृतिवाद और यथार्थवाद के रूप में विद्यमान

है। अब इन्द्रियानुभूत संसार के चित्रण को ही यथार्थवाद मान लिया गया है। फ्लाबेयर, जोला आदि की कृतियों में बीभत्स और अशिव का यह स्वरूप अत्यन्त घिनौना है।

इस प्रकार प्लेटो से आज तक अनुकरण सिद्धांत मान्य तो रहा है, पर भिन्न-भिन्न युगों में उसके अर्थ भिन्न-भिन्न रहे हैं–

1. होमर के बाद प्लेटो से पूर्व अनुकरण का अर्थ था होमर का अनुकरण।

2. प्लेटो में मूलादर्श के अनुकरण को सच्चा अनुकरण बताया।

3. अरस्तू की दृष्टि में अनुकरण का अर्थ कल्पनात्मक पुनर्निर्माण था।

4. अलंकार शास्त्रियों ने अनुकरण का अर्थ प्राचीन महान इतिहासकारों तथा कवियों का अनुकरण माना है।

5. नव-जागरण युग में कृत्रिमता-रहित उपादानों को ही कलात्मक सृजन का आधार माना गया।

6. आज अनुकरण सिद्धांत यथार्थवाद, प्रकृतवाद अतिसथार्थवाद के रूप में दिखायी देता है। आज के विचारक विज्ञान और कविता के भेद की व्याख्या करते हुए सत्य और कविता के बीच उस थोड़े से अन्तर को स्वीकार करते हैं जिसकी कल्पना अरस्तू ने अपने अनुकरण सिद्धांत का प्रतिपादन करते समय की थी।

अनुकरण की वस्तुएं

अरस्तू के अनुसार कलाकार तीन प्रकार की वस्तुओं में से किसी एक का अनुकरण कर सकता है जैसी वे थीं या है, जैसी वे कहीं या समझी जाती हैं और जैसी वे होनी चाहिए। स्पष्ट है कि वे काव्य का विषय प्रकृति के प्रतीयमान सम्भाव्य व आदर्श रूप को मानते हैं कवि को स्वतन्त्रता है कि वह प्रकृति को उस रूप में चित्रित करे जैसी वह इसकी इन्द्रियों को प्रतीत होती है अथवा जैसी वह भविष्य में प्रतीत हो सकती है, या फिर जैसी वह होनी चाहिए। इस चित्रण में निचश्य ही कवि को भावना औश्र कल्पना का योगदान होगा– वह नकल मात्र नहीं होगा। प्रतीयमान एवं संभाव्य रूप में यदि वह भावना और कल्पना का आश्रय लेगा, तो आदर्श रूप में वह अपनी रुचि इच्छा तथा आदर्शों के अनुरूप चित्र प्रस्तुत करेगा इस प्रकार अरस्तू का अनुकरण सिद्धांत भावनामय तथा कल्पनामय अनुकरण को मानकर चलता है, शुद्ध प्रतिकृति को नहीं अपने गुरु प्लेटों से इसी कारण वह भिन्न तो ही ही सारे, आगे भी है।

कविता और इतिहास का परस्पर सम्बन्ध

अरस्तू का मत है कि "कविता इतिहास की अपेक्षा अधिक दार्शनिक एवं उचतर वस्तु है कवि और इतिहासकार में वास्ताविक भेद यह है कि तो उसका वर्णन करता है जो घटित हो चुका है और दूसरा उसका वर्णन करता है जो घटित हो सकता है काव्य सामान्य की अभिव्यक्ति है और इतिहास विशेष की।" काव्य के सत्य को अमूर्त एवं व्यापक कहा गया है। चित्रण कल्पना, अनुभूति तथा विार पर आश्रित होता है।

कार्य से अभिप्राय

त्रासदी के विवेचन में अरस्तू ने लिखा है कि वह मनुष्यों में नहीं वरन् कार्य का और जीवन का अनुसरण करती है कार्य शब्द का प्रयोग उन्होंने मानव जीवन के चित्र (image of human life) के अर्थ में किया है। जो कुछ भी मानव जीवन के आन्तरिक - पक्ष को व्यक्त कर सके, बुद्धि सम्मत व्यक्तित्व का उद्घाटन करे, वह सभी कुछ कार्य शब्द के अर्न्तगत आएगा। अत: कार्य का अर्थ केवल मनुष्य के कर्म नहीं नहीं, उसके विचार भाव रत्रि आदि भी हैं। जो कर्म के लिए उत्तरदायी होते हैं। इस प्रकार अरस्तू ने 'कार्य' शब्द को अत्यधिक व्यापकता प्रदान कर दी है। अत: यहां भी अनुकरण का अर्थ नकल न होकर पुन-प्रस्तुतीकरण ही उचित प्रतीत होता है। जिस मानव का चित्रण होता है, वह सामान्य मानव को अच्छा भी हो सकता है, उससे

NOTES

बुरा भी हो सकता है और वैसे ही वैसा भी। अत: अनुकरण से उनका अभिप्राय कल्पनात्मक पुन: सर्जन था, जिसमें कुछ चीजें बढ़ाई जा सकती हैं, कुछ अनावश्यक बातें छोड़ी भी जा सकती हैं।

आनंद-सम्बन्धी मत

अरस्तू ने एक स्थान पर लिखा है, "जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन हमें दु:ख देता है, उनके अनुकरण द्वारा प्रस्तुत रूप हमें आनन्द प्रदान करता है। डरावने जानवर को देखने में हमें भय एवं दु:ख होता है, किन्तु उसका अनुकृत रूप हमें आनंद प्रदान करता है। इसका आशय यह हुआ है कि 'अनुकरण' द्वारा वास्ताविक जीवन में भय और दु:ख की अनुभूति प्रदान करने वाली वस्तु को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि उससे केवल आनन्द की उपलब्धि होती है। भय और दु:ख का निराकरण हो जाता है। यह अनुकरण निश्चय ही यथार्थ वस्तुपरक अंकन न होकर भावनात्मक और कल्पनात्मक होगा। अरस्तू का यह मत भारतीय रस-सिद्धांत से काफी कुछ मिलता-जुलता प्रतीत होता है।

अरस्तू का कथन है कि अनुकृत वस्तु से प्राप्त आनन्द कम सर्वभौम नहीं होता। यद्यपि इस कथन में अरस्तू का संकेत सहृदय को भी आनन्द तभी प्राप्त हो सकता है जब कवि के हृदय में आनन्द भाव की अनुभूति हो। इसका अर्थ यह हुआ कि अनुकरण में आत्म-तत्व का प्रकाशन अनिवार्य है, आत्माभिव्यंजनल आवश्यक है, वह केवल वस्तु का यथार्थ अंकन नहीं है। यथार्थ अंकन में वास्ताविक आनन्द की अनुभूति को ही नहीं पाती।

निष्कर्ष

अनुकरण से अरस्तू का अभिप्राय भावनापूर्ण अनुकरण से था, मन को यथार्थ प्रत्यंकन से नहीं। यह अनुकरण सुन्दर होगा, आनन्द प्रदान करेगा, पाठक के मन को उसकी वास्तविकता के प्रति आश्वत करेगा। उसमें आदर्श-तत्व भी होगा और व्यष्टि से सम्बद्ध होते हुए भी यह सार्वभूमि और समष्टिगत सत्य को प्रदिपादन करेगा। यही मान्यताएं अरस्तू को प्लेटों से अलग करके उसका महत्व बढ़ा देती हैं। बचर कहता है "अरस्तू के अनुकरण शब्द का अर्थ है, सादृश्य विधान अथवा मूल का पुनरुत्पादन, सांकेतिक अल्लेख नहीं। कला व कविता को मानव जीवन में सर्वव्यापक तत्व की अभिव्यक्ति मानता हुआ वह अनुकरण को रनात्मक प्रक्रिया *(creative action)* मानता है। "प्रो॰ गिलबर्ट मरे ने यूनानी शब्द 'पोएतेस' (कर्ता-रचयिता) को आधार मानकर अनुकरण शब्द की यही व्याख्या की और अनुकरण में सर्जना का अभाव नहीं माना है।

उपसंहार - अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत की शक्ति और सीमाएं

यह सत्य है कि अनुकरण को नया अर्थ प्रदान कर अरस्तू ने कला को स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किया, सुन्दर को शिव से अधिक विस्तृत माना, कला पर प्लेटों द्वारा लगाये पावित्र्यदूषकता के आरोप को वृथा बताया और कविता को दार्शनिकता तथसा नीति के चुंगल से छुटकारा दिलाया, तथापि उनका अनुकरण सिद्धांत पूरी तरह निर्दोष नहीं है।

वह आत्म-तत्व तथा कल्पना-तत्व को स्वीकार करते हुए भी वस्तु तत्व को प्रधानता देता है। उद्दीपक निमित्त मात्र नहीं मानता, अपितु आधाररूप मानता है। यह व्यक्तिपरक भाव-तत्व से अधिक महत्व वस्तुपरक भावतत्व को देता है जो निश्चय ही अनुभूति है, क्योंकि भाव-तत्व के बिना कविता कविता न रहकर प्रलाप या नीत्योपदैस मात्र बनकर रह जाती है।

दूसरे, उसकी परिधि बड़ी संकुचित है उसके कवि की अंतश्चेतना को उतना महत्व नहीं दिया गया जितना दिया जाना चाहिए था। कवि जीवल में विभिन्न अनुभवों के बी से गुजरता है, नाना प्रभाव ग्रहण करता है और दन सबसे उसकी अंतश्चेतना का निर्माण होता है।

विश्व का गीति काव्य जो मात्रा में अब सबसे अधिक हो गया है इसकी परिधि के भीतर नहीं समा सकता। गीतिकाव्य की आत्मा है भाव (emotion) जो किसी प्रेरणा के भार से दबकर एक साथ गति के रूप में फुट निकलता है। उसमें हार्दिकता (sonstaniety) तथा वैक्तिक अनुभूतियों का प्राधान्य होता है जो अनुकरण की परिधि में आ नहीं सकता।

अनुकरण-सिद्धांत का क्रोचे के सहजाभूति-सिद्धांत से भी विरोध है, क्योंकि क्रोचे के अनुसार कला का मूलरूप कलाकार के मानस में घटित होता है और रंग रेखा शब्द-लय में उसका अनुकरण प्रधान अथवा आवश्यक घटना न होकर आनुषंगिक घटना है। अत: क्रोचे के अनुसार अनुकरण कला-सृजन में कोई महत्वपूर्ण चीज नहीं, जबकि अरस्तू अनुकरण को ही कला कहता है।

अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत पर यह भी आक्षेप लगाया गया है कि अरस्तू ने जो शब्द ('memisis या Imitation' चुना है।

प्लेटो व अरस्तू के अनुकरण विषयक विचारों की तुलना

प्लेटो के अनुसार, 'अनुकरण' का अर्थ मूलादर्श का अनुकरण था। अरस्तु के अनुसार कल्पनात्मक पुनर्निर्माण। प्लेटो ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग हू-ब-हू नकल रकने के अर्थ में किया था, अरस्तू ने उसका एक सीमित तथा निश्चित अर्थ ग्रहण किया।

प्लेटो कला और अनुकरण का घनिष्ठ सम्बन्ध मानते हैं। अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकृति मानता है। प्लेटो गणितज्ञ था, अत: वह विचार से वस्तु की ओर अग्रसर होता था। प्लेटो की दृष्टि में मूलादर्श ही महत्वपूर्ण है। अरस्तू ने प्रत्येक कला-कृति को सौन्दर्य की वस्तु माना है।

3.4 विरेचन सिद्धान्त

स्वरूप विरेचन तथा व्याख्याएँ, विरेचन का महत्त्व, त्रासदी विरेचन।

अरस्तु ने न तो 'विरेचन-सिद्धान्त' की कोई परिभाषा ही अपने किसी ग्रंथ में दी है और न कहीं उसकी व्याख्या ही की है। उन्होंने केवल दो स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग किया है–प्रथम तो अपने ग्रन्थ 'पोइटिक्स' में जहाँ उन्होंने त्रासदी की परिभाषा तथा उसका स्वरूप निश्चित करते हुए कहा है, त्रासदी किसी गम्भीर, स्वत:पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है, जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृति भाषा होती है।

दूसरा स्थल, जहाँ 'विरेचन' शब्द का उल्लेख अरस्तू ने किया है, उनके 'राजनीति शास्त्र' नामक ग्रन्थ में है। जहाँ वे लिखते हैं, 'किन्तु इससे आगे हमारा यह मत है कि संगीत का अध्ययन एक नहीं वरन् अनेक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए होना चाहिए– (1) शिक्षा के लिए, (2) विरेचन (शुद्धि) के लिए; (3) संगीत से बौद्धिक आनन्द की भी उपलब्धि होती है। यहाँ भी विरेचन से अरस्तू का तात्पर्य शुद्धि से है। वह मानते हैं कि यद्यपि शिक्षा में नैतिक रागों को प्रधानता देनी चाहिए, परन्तु आवेग को अभिव्यक्त करने वाले रागों का भी आनन्द लिया जा सकता है।

अरस्तू का मत है कि त्रासदी करुणा तथा त्रास के कृत्रिम उद्रेक द्वारा मानव के वास्तविक जीवन की करुणा और त्रास-सम्बन्धी भावनाओं का निष्कासन करती है, त्रासदी के पठन और प्रेक्षण से सयंत रूप में करुणा और भय को जो संचार होता है, उससे व्यावहारिक जीवन में करुणा और भय में प्रचंड आवेगों को झेलने की शक्ति आ जाती है। प्लेटो को यह भी कि विकृत उत्साह (morbid enthussm) की चिकित्सा उद्दाम संगीत द्वारा

सम्भव है।

विरेचन की व्याख्या– अरस्तू के परवर्ती व्यख्याकारों ने विरेचन के तीन अर्थ किए– 1. धर्मपरक 2. नीतिपरक, 3. कलापरक।

धर्मपरक अर्थ– प्रो. मरे का मत है कि वर्षारम्भ पर दिओन्युसस नामक देवता से सम्बन्द्ध उत्सव मनाया जाता था। इस उत्सव में देवताओं से विनती की जाती थी कि वह उपासकों को विगत वर्ष के पापों, कुकर्मों तथा कालुष्यों से मुक्त कर दे आगामी वर्ष में उन्हें इतना विकेकपूर्ण तथा शुद्ध हृदय बना दे कि पाप, कलुष मृत्यु आदि से बचे रहें। विरेचन का धर्मपरक अर्थ स्वीकार करने वाले विद्वानों का मत हैं कि अरस्तू ने 'विवेचन का लाक्षणिक प्रयोग धार्मिक आधार पर किया और उनका अर्थ था– बाह्य उत्तेजना और अन्त में उसके शमन द्वारा आत्मिक शुद्धि और शान्ति।

नीतिपरक अर्थ– त्रासदी रंगमच पर ऐसे दृश्य प्रस्तुत करती है जिसमें वे मनोवेग अतिरंजित रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं, उसमें ऐसी परिस्थितियां उपस्थित की जाती हैं, जो त्रास और करुणा से भरी होती हैं। प्रेक्षक मन में भी त्रास और करुणा के भाव पहले तो अपार वेग से उद्वेलित होते हैं और तत्पश्चात् केवल प्रेक्षागृह में ही भावों को स्वस्थ अभिव्यक्ति मिल सकती हैं, क्योंकि वहाँ हम निडर होकर इन भावों में बिहार कर सकते हैं। अत: विरेचन का नीतिपरक, अर्थ हुआ– मनोविकारों के उत्तेसन के बाद उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक विशदता।

कलापरक अर्थ– यद्यपि अरस्तू के विरेचन सिद्धांत के कलापरक अर्थ का संकेत हमें गेटे तथा अंग्रेजी के स्वच्छतावादी कवि आलोचकों में भी मिलता है। प्रो. बूचर उनका कथन है कि अरस्तू का विरेचन शब्द केवल मनोविज्ञान अथवा चिकित्सा शास्त्र से ही सम्बन्धित नहीं है, कला सिद्धांत का भी अभिव्यंजन है। उनके अनुसार विरेचन का कलापरक अर्थ है– पहले मानसिक संतुलन और बाद में कलात्मक परिष्कार।

विरेचन-सिद्धांत की द्वारा प्रेक्षक मन:शन्ति का अनुभव तो करता है पर आनन्द का उपयोग नहीं कर पाता।

3.5 स्वरूप व अर्थ

अरस्तू द्वारा प्रयुक्त मूल शब्द ष्टज्ञंजींतेपेष्ठ है। हिन्दी में इसका अनुवाद 'रेचन', 'विरेचन' तथा 'परिष्करण' शब्दों द्वारा किया गया है, पर 'विरेचन' शब्द सर्वाधिक प्रचलित है।

अरस्तू के परवर्ती व्याख्याकारों ने लक्षणा के आधार पर विरेचन के तीन प्रकार के अर्थ किए हैं –

1. धर्मपरक
2. नीतिपरक
3. कलापरक।

3.6 धर्मपरक अर्थ

यूनान में भी भारत की तरह नाटक का आरम्भ धार्मिक उत्सवों से ही हुआ। इस उत्सव में देवता से विनती की जाती थी कि वह उपासकों को विगत वर्ष के पापों, कुकर्मों तथा कालुष्यों से मुक्त कर दें। यह है कि विरेचन का धर्मपरक अर्थ स्वीकार करने वाले विद्वानों का मत है कि अरस्तू ने 'विरेचन' का लाक्षणिक प्रयोग धार्मिक आधार पर किया।

3.7 नीतिपरक अर्थ

विरेचन सिद्धांत के नीतिपरक अर्थ की व्याख्या एक जर्मन विद्वान बारनेज ने की। उसके अनुसार मानव-मन में अनेक मनोविकार वासना रूप में स्थित रहते हैं। इसमें करुणा और त्रास नामक मनोवेग मूलत: दु:खद होते हैं। विरेचन का नीतिपरक अर्थ हुआ—मनोविकारों के उत्तेजन के बाद उद्वेग का शमन और तज्जन्य मानसिक शान्ति और विशदता।

3.8 कलापरक अर्थ

अरस्तू के विरेचन-सिद्धान्त के कलापरक अर्थ का संकेत तो गेटे तथा अंग्रेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि-आलोचकों ने भी दिया था। कला-सिद्धान्त का भी अभिव्यंजक है।

''यह (विरेचन) केवल मनोविज्ञान अथवा निदान-शास्त्र के एक तथ्य विशो का वाचक न होकर, एक कला सिद्धांत का अभिव्यंजक है..... त्रासदी का कर्त्तव्य कर्म केवल करुणा या त्रास के लिए अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, किन्तु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परितोष प्रदान करता है, इनको कला के माध्यम में डालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करना है।''

विरेचन का कलापरक अर्थ है— पहले मानसिक संतुलन और बाद में कलात्मक परिष्कार।

'विरेचन' के सभी अर्थ अरस्तू को अभिप्रेत थे अथवा नहीं, यह कहना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि इस विषय पर उनकी अपनी व्याख्या अपर्याप्त है। अत: इस विषय में हम केवल अनुमान या तर्क से काम ले सकते हैं। धार्मिक शुद्धि की ओर तो स्वयं अरस्तू ने संकेत किया ही था, मानसिक शुद्धि की चर्चा भी उनके राजनीति में उपलब्ध होती है। अत: वे इसका नैतिक अर्थ भी करते होंगे। प्रश्न है क्या वे उसका कलापरक अर्थ भी ग्रहण करते थे? हमारा मत है कि धर्मपरक, नीतिपरक तथा कलापरक तीनों अर्थों में निश्चय ही सत्य का अंश वर्तमान है।

प्रो॰ मरे न यूनान की प्राचीन प्रथा के साथ विवेचन सिद्धांत की सीधा सम्बन्ध स्थापित किया है। यद्यपि यह सत्य है कि अरस्तू अपने युग की परिस्थितियों में अवश्य प्रभावित हुए होंगे और विरेचन सिद्धान्त की उनकी परिकल्पना पर भी युगीन धार्मिक प्रथा का प्रभाव पड़ा हो पर यह प्रभाव अप्रत्यक्ष ही रहा होगा। विरेचन के धर्मपरक अर्थ का तात्पर्य है कि धार्मिक संगीत श्रोता के भावों को पहले उत्तेचित करके फिर शान्त करता है। परन्तु काव्य धनात्मक होता है, नकारात्मक नहीं। काव्य का उद्देश्य केवल अस्वास्थ्यकार भावनाओं सा रुग्ण मनोवृतियों का निवारण नहीं है, काव्य का उद्देश्य केवल अस्वास्थकार भावनाआं या रुग्न मनोवृतियों का निवारण नहीं है, स्वास्थ्यकार भावनाओं का अभिवर्धन करना भी होता है।

अत: तक विरेचन के नीतिपरक अर्थ का सम्बन्ध है, आधुनिक मनोविलेषण शास्त्र भी उसकी पुष्टि करता है कि हमारी मनोविज्ञानवेत्ता फ्रायड, युग आदि यह स्वीकार करते हैं कि हमारी वासनाएं जब परितृप्त नहीं हो पातीं, तो हमारे मनोवेग कुण्ठित हो जाते हैं और वासनाएं अवचेतन मन में जाकर पड़ जाती है यदि उनकी उति परितुष्टि न हो, तो वे मानसिक रुग्णता का रूप ग्रहण की लेती हैं। अभुक्त मनोवेग या कुण्ठा मनोग्रन्थि (Complex) से परिणत हो जाती है। ऐसा कुण्ठा ग्रस्त व्यक्ति तथा मानसिक स्वास्थ्य लाभ कर पाता है, जब उसका वह मनोवेग या अपृप्त कामना उचित रीति से परितृप्त हो जाय।

अव प्रो. बूचर द्वारा प्रस्तुत विरेचन की व्याख्या पर विचार करें। उनके अनुसार विरेचन के दो पक्ष हैं— एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक। उसका अभावात्मक पक्ष तो यह है कि वह पहले मनोवेगों को उत्तेजित करे और तदुपरान्त उसका शमन कर मन:शान्ति प्रदान करे। उसका भावात्मक पक्ष है कलात्मक परितोष। डॉ. नगेन्द्र

के अनुसार अरस्तू का अभीष्ट केवल मन को सामंजस्य, तज्जन्य विशदता और भावनाओं की शुद्धि था। कला-जन्य आस्वाद अरस्तू के विरेचन की परिधि से बाहर की बात है। वे कहते हैं– "विरेचन कलास्वाद का साधक तो अवश्य था... परन्तु विरेचन में कलास्वाद का सहज अन्तर्भाव नहीं है, अतएव विवेचन-सिद्धान्त को भावात्मक रूप देना कदाचित न्याय नहीं है।"

विरेचन पर आक्षेप– अनेक अलोचकों उनका मत है कि वास्ताविक अनुभव में विरेचन होता ही नहीं। त्रासदी को देखकर करुणा, भय आदि मनोवेग तो जाग्रत हो जाते हैं, परन्तु उनके रचन में मन:शान्ति सदा नहीं होती। बहुत से नाटक तो केवल प्रेक्षक के भावों को क्षुब्ध करके रह जाते हैं। डॉ॰ नगेन्द्र कहते हैं कि सफल त्रासदी का चमत्कार मूलत: रागात्मक है। त्रासदी यदि केवल भावों को विक्षुब्य कर छोड़ देती, तो प्रेक्षक समय और धन खर्च कर त्रासदी देखने क्यों जाते?

दूसरा आक्षेप यह लगाया गया है त्रासदी में प्रदर्शित भाव अवास्ताविक होते हैं। यह आक्षेप भी बड़ा दुर्बल है। क्या शेक्सपियर का 'हैमलट' देखकर हमें केबल कला का आस्वादन सज्जा, आदि, से उत्पन्न कलात्मक प्रभाव से अधिक मुग्ध कर सकता है। पर इग्लैंड की नाट्य मंडलियाँ जब 'हैमलेट' या 'मैकबैथ' का रंगमंच पर अभिनय प्रस्तुत करती हैं और उनके सिनेमा की आधुनिकता कला की अपेक्षा पुरातन कला का प्रश्रम लेती हैं, तो भी हमें आनन्दोपलब्धि होती है, उनके कदाचित् सिनेमा से अधिक। यदि यह मान भी लिया जाए कि कला उसमें भी होती है और प्रेक्षक को आनन्द प्रदान करती हैं तो भी अनुभव यह बताता है कि हम 'हैमलेट' या भारतेन्दु–कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के दु:खद प्रसंगों को देखकर रो पड़ते हैं। यह भावोद्रक निश्चय ही कला-चमत्कार का प्रतिफल नहीं है, रागात्मक प्रभाव की परिणति है। अत: यह आक्षेप भी निराधार है।

अरस्तू ने अपने विरेचन-सिद्धांत में त्रास और करुणा के भावों को उल्लेख तो किया, पर प्रेम (love) और श्लाघा (admiration) नामक भावों को जगाने की बात नहीं कहीं है। अरस्तू ने प्रेम और श्लाघा भावों का अपने विरेचन-सिद्धांत में उल्लेख कर भूल की है। त्रासदी केवल करुणा और भय का ही अपने विरेचन-सिद्धांत में उल्लेख न कर भूल की है। त्रासदी केवल करुणा और भय का ही परिष्कार नहीं करती, अन्य अवांछनीय भावनओं– पाप, क्रोध महत्वाकांक्षा आदि प्रबल मनोभावों की निस्सारता भी बताती है और उन पर नियंत्रण रखने की प्रेरणा देती है।

विरेचन और आनन्द– दु:ख से सुख, यह विरोधाभास है। त्रास और करुणा दोनों ही कटु भाव है। त्रास में किसी आसन्न घातक अनिष्ट से उत्पन्न घातक अनिष्ट से उत्पन्न कटु अनुभूति होती है, तो करुणा उस समय उत्पन्न होती है जब किसी निर्दोष व्यक्ति को अनिष्ट में पड़ा देखने हैं। त्रासदी में एक ओर हम निर्दोष व्यक्ति को कष्ट सहन करते देख करुणाभिभूत होते हैं, और दूसरी ओर हम प्रति भी सशंक और भयाकुल हो उठते हैं कि कहीं यह आपदान हम पर भी न आ पड़े।

त्रासदी की करुणा वास्ताविक जीवन की करुणा में मूलत: भिन्न नहीं होती, क्योंकि नाटक में भी हम उस व्यक्ति के प्रति करुणा अनुभव करते हैं जो निर्दोष है या (अपने दोष के अनुपात से अधिक) कष्ट पाता है, पर त्रास के भाव में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है, वास्ताविक जीवन में हम अपने ऊपर आने वाली आपदा नहीं होती, बल्कि नायक पर आने वाली आपदा से उत्पन्न त्रास होता है।

प्रो. बूचर कथन है कि प्रत्यक्ष जीवन में त्रास और करुण दुखद अनुभूतियाँ हैं, पर 'त्रासदी' में वे वैयक्तिक दंश में से मुक्त हो साधनीणीकृत रूप में उपस्थित हो जाती हैं। संकुचित 'स्व' क्षुद्र और कटु होता है, विस्तृत 'स्व' विशाल और सुखद। अपने जीवन में भावुक होना दोष है, पर ऑथलो के प्रति करुणा अनुभव करना अच्छा है। हैमलेट का दु:ख हमारा अपना संकुचित दु:ख नहीं है, उसके दु:ख को देख हमारा हृदय विस्तीर्ण हो जाता है, हमें अपने दु:ख क्षुद्र प्रतीत होने लगते है।

महान् आपदाओं को क्षेलते हुए नायक को देखकर दर्शक सहानुभूति उल्लास का अनुभव करता है; उसे ऐसा लगता है जैसे वह ऊंचा देखकर दर्शक सहानुभूति उल्लास का अनुभव करता है; उसे ऐसा लगता है जैसे वह ऊँचा उठ रहा है। इसी सुखद अनुभूति में त्रासदी का आनन्द निहित है। प्रो. बूचर का दूसरा तर्क है कि 'त्रासदी'

कला है। कलात्मक प्रक्रिया में पड़कर त्रास और करुणा का दंश नष्ट हो जाता है, दु:ख सुख में बदल जाता है। डॉ० नगेन्द्र का कहना है कि यदि अरस्तू इन दोनों तत्वों को विरेचन सिद्धांत में अन्तर्गत करना चाहते, तो वह उनका विवेरन सिद्धांत के ही अन्तर्गत करते, पर उन्होंने इन दोनों तत्वों से अवगत होते हुए भी ऐसा नहीं किया है। अत: डॉ. नगेन्द्र के अनुसार विरेचन आनन्द की भूमिका है, आनन्द नहीं है क्या कोई प्रेक्षक यह कहते देखा गया है कि चूंकि वह गित तीन मास से नहीं रोया है, अत: वह 'अत्तामचरित' या The Garden of Allan' देखने जा रहा है? स्पष्ट ही हमारा उत्तर 'नहीं' होगा।

जैसा कि अरस्तू की परिभाषा से लगता है, मात्र विरेचन नहीं है। आज का (function) जैसा कि अरस्तू की परिभाषा से लगता है, मात्र विरेचन नहीं है आज का दर्शक तो भावोत्तेजन के लिए थिएटर में जाता है, भावशमन के लिए नहीं। त्रासदी देखने से जीवन में गम्भीर तथ्यों को समझने की शक्ति बढ़ती है, हमारी भावनाएं भी उदार बनती हैं– The function of tragic drama is to exalt, not to cure. फिर अरस्तू ने अपनी परिभाषा में विरेचन को ही त्रासदी का एक मात्र कर्त्तव्य कर्म क्यों ठहराया? उत्तर स्पष्ट है– प्लेटो द्वारा काव्य पर लगाये आरोप का उत्तर देने के लिए। उसके समय के सन्त भावशमन पर बल देते थे, संयम और निवृत्ति को आवश्यक मानते थे, और प्लेटों ने काव्य पर आक्षेप लगाया था कि वह ऐसे भावों को पल्लवित और पुष्ट करता है जो अहितकार हैं।

'विरेचन-सिद्धांत अपनी समस्त शक्ति तथा सीमाओं सहित पाश्चात्य काव्यशास्त्र को अरस्तू की एक महत्वपूर्ण देन है। इसके द्वारा अरस्तू के प्लेटो के काव्य पर लगाए आक्षेप का उत्तर दिया, काव्य की महत्ता स्थापित की और त्रासदी के प्रभाव को गौरवपूर्ण बनाया। अरस्तू के 'विरेचन', रिचर्ड्स के 'अन्तवृत्तियों के समंजन' और शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित 'हृदय की मुक्तावस्था' में अन्तत: कोई भेद नहीं है। विरेचन-सिद्धांत अरस्तू और उसके साथ ही पाश्चात्य काव्यशास्त्र की एक स्थायी उपलब्धि कहा जा सकता है।

3.9 त्रासदी विरेचन

पश्चिम में त्रासदी का सर्वप्रथम विवेचन यूनान में हुआ। यद्यपि अरस्तू से पूर्व प्लेटो ने भी त्रासदी पर अपने विचार पकट किये थे तथापि अरस्तू ने ही सबसे त्रासदी का गम्भीर एवं विशद विवेचन किया।

त्रासदी की परिभाषा– अरस्तू ने 'पोयटिक्स' के छठे अध्याय के आरम्भ में लिखा है–

Tragedy then is an imitation of an action that is serious, complete and of certain magnitude; in lanugage embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play: in the form of action, not of narrative; through pity and fear effecting the proper purgation of these emotions.

इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू (और ग्रीक लोग) त्रासदी के लिए दुखान्त होना आवश्यक नहीं समझते थे। वह उसे ऐसा नाटक समझते थे जो जीवन का गंभीर चित्र प्रस्तुत करे।

अरस्तू ने अपनी परिभाषा में 'mimesis' शब्द का प्रयोग किया है और बूचर ने उसका अनुवाद 'imitation' किया है जिसका हिन्दी अर्थ होगा अनुकृति या अनुकरण। वस्तुएं 'imitation' की जगह 'representation' अधिक उपयुक्त शब्द है, क्योंकि त्रासदी पर काव्य में लेखक फोटोग्राफर की तरह अनुकरण नहीं करता। संगीत के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार भी इसी ओर संकेत करते हैं कि उसका अभिप्राय जीवन का अनुकरण न होकर जीवन का निरूपण (repersenatation) करना है। अरस्तू के अनुसार यह निरूपण (representation) कार्य (action) का होना चाहिए।

अरस्तू ने केवल गंभीर कार्य (serious action) की अनुकृति को त्रासदी का विषय माना है। प्रश्न उठता है कि क्या उसमें इब्सन के नाटकों की सी साधारण बातें बहिकृष्त करनी होंगी? हमारा मत है भले की कुछ विद्वानों ने इस प्रकार के दृश्यों को त्रासदी के लिए आवश्यक बताया है, उसका अर्थ केवल यह है कि भाषा

चाहे गद्य हो या पद्य, तथा स्थिति के अनुरूप होनी चाहिए। कार्य अभिनीति होना चाहिए वर्णित नहीं, पर पुरानी तथा नयी सभी त्रासविदयों में प्रत्येक चीज का अभिनय नहीं होता। वस्तुत: वह इस कथन के द्वारा नाटक और महाकाव्य का अन्तर बताना चाहता था, क्योंकि महाकाव्य वर्णनात्मक (narrative) होता है।

यदि अरस्तू को ही आधार बनाया जाश, तो आज हम त्रासदी की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं– "त्रासदी में जीवन के किसी पक्ष का गंभीर चित्रण संवाद तथा अभिनय द्वारा होता है और वह दुखान्त होती है।

त्रासदी के तत्व– अरस्तू के अनुसार त्रासदी के छ: तत्व हैं– कथावस्तु या कथानक (plot), चारित्र (character) विचार -तत्व (Thought), पदावली (Diction), दृश्य विधान (Spectacle) तथा संगीत (Melody)।

1. कथावस्तु– कथावस्तु के अरस्तू का तात्पर्य घटनाओं के विन्यास से है। यह कथावस्तु को त्रासदी का सबसे महत्वपूर्ण अंग, उसकी आत्मा मानता है। इसके लिए उन्होंने निम्न कारण दिये हैं–

(क) त्रासदी कार्य की तथा जीवन की अनुकृति है।

(ख) जीवन कार्य-व्यापार का ही नाम है अत: जीवन की अनुकृति में कार्य व्यापार ही प्रमुख है।

(ग) कार्य या घटनाएं ही त्रासदी का साध्य हैं।

(घ) चरित्र कार्य व्यापार के साथ गौण रूप से स्वत: ही आ जाता है।

(ड़) बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नहीं हो सकती, बिना चरित्र चित्रण के हो सकती है।

(च) चारित्र्य-व्यंजक भाषण, विचार उतना कारुणिक प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकते जितना कथानक।

(छ) त्रासदी के सबसे प्रबल आकर्षक तत्व– स्थिति विपर्यय (Peripety) तथा अभिज्ञान (Discovery) कथानक के ही अंश हैं।

विभिन्न आलोचकों ने अस्तूत के इस मत को भ्रान्त अर्ध सत्य तथा अवैज्ञानिक बताकार उन कारणों पर प्रकाश डाला है, जिनसे प्रभावित हो अरस्तू ने अपनी वह स्थापना प्रस्तुत की। आलोचकों के इस आक्षेप का मूल कारण यह है कि इन्होंने कथानक तथा चरित्र चित्रण को परस्पर विरोधी माना है। वह कथानक (Plot) को वास्ताविक जीवन की क्रिया (action) का समानार्थी मानता था और क्रिया से आन्तरिक प्रक्रिया (inward process) से भी है,जो बाह्य क्रियाओं से अभिव्यक्ति पाती है। क्रिया से उसका अभिप्राय स्थूल कार्य, घटनाएं और स्थितियां मानसिक प्रक्रिया और प्रेरक हेतु (motives) भी था, जो प्रत्येक बाह्य कार्य के पीछे रहते हैं। दूसरे, वह चरित्र की सार्थकता क्रिया में मानता है जिस प्रकार सोए हुए व्यक्ति के विषय में हम नहीं जान पाते है कि वह कैसे चरित्र का है, उसी प्रकार तक व्यक्ति सोचता रहे, केवल अपनी रुचित मानसिक मनोवृतियों के अपने शब्दों द्वारा झलक मात्र देता रहे, उन्हें कार्य-कलाप द्वारा प्रकट न करे, हम उससे प्रभावित नहीं होते–

> Character in itself is not fully real unit is it 'in act' or 'in action.'

तीसरे, जिस (Ethos) शब्द का अरस्तू ने अपनी इस उक्ति

"A tragedy is impossible without action, but there may be one without character (ethos)."

– में प्रयोग किया है, उसके दो अर्थ है– पात्र (dramatic personage) तथा पात्र का नैतिक स्वभाव (ethical nature) जब अरस्तू कहता है कि ethos के बना भी त्रासदी संभव है, तब उसका उसका अभिप्राय केवल इतना है कि त्रासदी ऐसे पात्रों के बिना भी सम्भव है जो केवल अपना नैतिक स्वभाव प्रदर्शित करते हैं। अत: अरस्तू की दृष्टि में पात्र या चरित्र चित्रण तुच्छ नहीं जैसा कि कुछ का मत है। वह तो केवल शून्य में स्थित पात्र के विरुद्ध है।

अरस्तू कथानक और चरित्र चित्रण को परस्पर आश्रित और सम्बद्ध मानता है।

कथानक का आधार– अरस्तू के विषय के आधार पर तीन प्रकार के कथानक माने हैं– दन्तकथामूलक, कल्पनामूलक और इतिहासमूलक। यद्यपि इन तनों वह वह दन्तकथाओं को ही त्रासदी का श्रेष्ठ आधार मानता

है काल्पनिक ओर ऐतिहासिक कथाओं को भी त्रासदी का आधार बनाया जा सकता है, बशर्ते कि वे संभाव्य और आनन्दप्रद हों। वे इतिहासकार की तरह कथा को प्रस्तुत न कर कवि या नाटकार के समान प्रस्तुत करें। उसका सत्य इतिहास का सत्य न होकर काव्य का सत्य होना चाहिए। दन्त कथाओं सत्य और कल्पना दोनों के सुन्दर समन्वय का अवकाश रहता है।

शिल्प की दृष्टि से उसने कथानक के दो भेद किये हैं– सरल और जटिल। सरल से उसका अभिप्राय है और एक अविच्छिन्न कार्य-व्यापार, जिसमें स्थिति-विपर्यय और अभिज्ञान के बिना ही भाग्य परिवर्तन हो जाता है, जिसमें कार्य सीधा घटना की ओर बढ़ता है। जटिल कथानक वाली त्रासदी में कार्य-व्यापार जटिल होता है। उसमें अनेक मोड़ होते हैं, कई प्रासंगिक कथाएं होती हैं।

कथानक का आयाम– अरस्तू सुन्दर कथानक के लिए निश्चित आयाम (magnnude) को आवश्यक बताया है। उचित आयाम का अर्थ है– 'ऐसा आकार जिसे दृष्टि एक साथ समग्र रूप में ग्रहण कर सके। अर्थात् कथानक का विस्तार इतना होना चाहिए। कि वह सरलता से स्मरण रखा जा सके.... न तो इतना छोटा कि प्रेक्षक के मन में उसका स्वरूप ही स्पष्ट हो न सके और न इतना लम्बा कि वह उसे समग्र रूप में ग्रहण न कर सके।

उसमें इतना अवकाश अवश्य होना चाहिए कि जीवन की सुखमय या दुखमय परिणति दिखाई जा सके।

कथानक के मूल गुण– कथानक के निम्नोक्त चार मूल गुण माने गये हैं–

1. पूर्णता– अरस्तू का मत है कि उसमें आरम्भ, मध्य और अन्त होना चाहिए। आरम्भ ऐसी स्थिति से होना चाहिए जिसके परिणाम तो निश्चित हों, पूर्व-कारण न हों।

"A beginning is that which is ot itself necessarily after anything else."

नाटक के आरम्भ में कुछ तथ्य तो अवश्य दिये जाएंगे, पर वे इस प्रकार के हों और इस प्रकार किए जाने चाहिए कि उनके स्रोत ढूंढने की जिज्ञासा न हो, बल्कि आगे के परिणाम जानने की उत्सुकता हो।

मध्य में अरस्तू का अभिप्राय उस स्थिति से है जिसके पूर्ववर्ती कारण भी हों और जिससे आगामी परिणाम भी घटित हों। उसका पर्वूवर्ती और परवर्ती सभी घटनाओं से कार्य-कारण सम्बन्ध हो होता है। वह किसी का अनुमगन करता है और अन्य घटना उसका त्रासदी का अन्त ऐसा होना चाहिए जो मध्य का तो परिणाम हो पर जो स्वयं किसी अन्य स्थिति को जन्म न दे, जिसका अनुवर्ती कुछ न हो। अन्त ऐसा नहीं होना चाहिए। जिसके बाद भी प्रेक्षक में जिज्ञासा बनी रहे।

उनमें अन्विति, पूर्णता आदि गुण होने चाहिए। इसलिए अरस्तू में त्रासदी में त्रासदी में, जिसके कार्य को उसने एक तथा पूर्ण (complete in itself) माना है, एकान्विति से युक्त कथानक को अनिवार्य ठहराया है। कार्य की समाप्ति एक निश्चित बिन्दु पर होनी चाहिए और अब घटनाओं के पीछे एक ही उद्देश्य परिलक्षित होना चाहिए।

अरस्तू का कथन है, "त्रासदी को यथासम्भव सूर्य की एक परिक्रमा या इससे कुछ अधिक समय तक सीमित रखने का प्रयत्न किया जाता है।" प्रथम तो 'सूर्य की एक परिक्रमा' के सम्बन्ध में ही पर्याप्त मतभेद रहा है– कारनेई के अनुसार इसका अर्थ 24 घंटे और अधिक से अधिक यह अवधि 30 घंटे तक बढ़ाई जा सकती थी। दासिए ने इसका अर्थ बारह घंटे किया। दूसरे, स्वयं ग्रीक नाटकारों ने अपने नाटकों में इस विधान को उस अर्थ में ग्रहण नहीं किया, जिस अर्थ में यूरोप में नव्यशास्त्रवादी नाटकारों ने ग्रहण कर अपने नाटकों की कथावस्तु को यथासम्भव एक दिन की घटनाओं तक सीमित रखने का प्रयास किया।

जहां तक स्थान की अन्विति (Unity of place) का सम्बन्ध है, उसने कहीं यह नहीं कहा है कि सम्पूर्ण नाटक के मंच पर केवल एक स्थान को प्रस्तुत किया जाए अरस्तू ने केवल प्रभावान्विति (Unity of impression) पर ही बल दिया है।

3. सम्भाव्यता और आवश्यकता– अरस्तू कथानक में ऐसे संवगों का सन्निवेश होना चाहिए जो सम्भाव्यता और आवयश्कता के नियम के अधीन सम्भव हो।

नाटक में केवल युक्तिसंगत (rational) प्रसंगों को लिया जाना चाहिए, संयोग (change) और असंभाव्य घटनाओं का ही बहिष्कार होना चाहिए, ऐसे असंबद्ध प्रसंगों को नहीं लेना चाहिए जिनका मूल नाटक में न हो, आकस्मिक अतिमानवीय तत्वों (supernatural elements) का सहारा लेना ही उचित नहीं है।

आवश्यकता के नियम के अन्तर्गत दो बातें आती हैं। (1) यदि एक विशिष्ट प्रकार का कार्य किया जाएगा, तो उसका फल भी विशिष्ट प्रकार का होगा। उदाहरण के लिए गर्दन पर तलवार चलाने से चोट लगेगी ही। (2) यदि अमुक व्यक्ति अमुक परिस्थितियों में अमुक व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है, तो वह अमुक प्रकार का कार्य करेगा। अरस्तू का आवश्यकता का नियम नाटक के आन्तरिक संगठन से संबद्ध होते हुए भी बाह्य जगत के प्रसंगों से पूर्णत: असंबद्ध नहीं है।

(4) सहज विकास– कथानक के विभिन्न अंगों का विकास सहज रूप मे होना चाहिए। घटनाएं एक दूसरी का सहज परिणाम होनी चाहिए। यान्त्रिक अवतारणा तथा अन्य बाह्य साधनों का प्रयोग उचित नहीं। घटनोद्घाटन (exposition) नाटकीय भावुकतापूर्ण और कुतूहलवर्धक होना चाहिए।

कथानक के अंग– अरस्तू ने त्रासद का नायक पूर्ण नहीं हो सकता।

"The hero should be an intermediate kind of personage not personage not preeminently virtuous or just."

त्रासदी प्रभाव के लिए उसका अपूर्ण होना आवश्यक है। अपूर्णता किस प्रकार की हो? अरस्तू ने इसके लिए 'हैमरतिया' शब्द का प्रयोग किया है, जिसके विभिन्न अर्थ किए गए हैं– चारित्रिक दोष, बौद्धिक दोष, परिस्थिति के अपर्याप्त ज्ञान से उत्पन्न भूल, गलत निर्णय का दोष, आदि। इनमें कौन सा अर्थ अरस्तू को अभिप्रेत था। अरस्तू ने स्पष्ट लिखा है–

Misfortune ..... is brought upon him not by vice and depravity by some error of judgement (humartia).

हैमरतिया ने उसका अभिप्राय, जैसा कि बाईवाटर, रौसजैनी तथा हम्प्रेहाउस का मत है, ऐसी गलती से है जो किसी तथ्य या परिस्थिति की अज्ञानता से उत्पन्न होती है। पापपूर्ण कृत्य कभी करुणा को जन्म नहीं दे सकता। सारांश यह है कि हैमरतिया और नैतिक दोष साथ-साथ चल सकते हैं, परन्तु अकेला नैतिक दोष या पाप त्रासदी को जन्म नहीं दे सकता, उसके साथ अज्ञान से उत्पन्न, भविष्य को समझ न पाने से उत्पन्न कोई-विशिष्ट गलती भी होनी चाहिए।

(2) स्थिति विपर्यय– (Peripety) अरस्तू का मूल शब्द है 'परीपेतेइआ' जिसका अनुवाद अंग्रेजी में reversal किया गया है और जिसके अर्थ में विषय में विद्वानों में मतभेद है। बूचर ने इसका अर्थ भाग्य-विपर्यय किया है, पर उसका यह अर्थ ठीक नहीं। स्वयं अरस्तू ने भी अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है–

"A peripetoia occurs where a course of action intended to produce a reult X, produce the reverse of X."

अत: 'पेरीपेतइआ' की स्थिति वह है जहाँ नायक की इच्छा और आशा के विपरीत कुछ घटित हो जाता है। त्रासद प्रभाव तो तभी तो तभी उत्पन्न होता है जब विपत्ति के कारण भाग्य अथवा संयोग ने होकर या तो पात्र स्वयं हों या उनके शुभचिंतक मित्र। वे स्वयं अपने हाथों अपने प्रिय की हत्या कर डालें, जैसे रुस्तम ने अपने पुत्र की हत्या की। अत: ऐसी स्थिति जो सर्वथा अप्रत्याशित और अनिच्छित हो और जिसके कारण मनुष्य विपत्ति में पड़े, पेरीपेतेइआ कहलाती है।

(3) अभिज्ञान (अनग्नोरिसिस)– अरस्तू के इस ग्रीक शब्द का अंग्रेजी में (Disvery) अनुवाद किया गया है। उसका स्पष्ट अर्थ है– अज्ञान का ज्ञान में परिणत होना– "a change from ignorance to knowledge." ल्यूकस के शब्दों में अभिज्ञान का अर्थ है–

"Realisation of the truth, the opening of the eyes, the sudden lighting flash in the darkness."

त्रासद प्रभाव के लिए उसका अपूर्ण होना आवश्यक है। अपूर्णता किस प्रकार की हो? अरस्तू ने इसके लिए 'हैमरतिया' शब्द का प्रयोग किया है, जिसके विभिन्न अर्थ किए गए हैं– चारित्रिक दोष, बौद्धि दोष, परिस्थिति

के अपर्याप्त ज्ञान से उत्पन्न भूल, गलत निर्णय का दोष, आदि। इनमें कौन सा अर्थ अरस्तू को अभिप्रेत था। अरस्तू ने स्पष्ट लिखा है–

Misfortune .... is brought upon him not by vice and 'depravity by some error of judgement (hamartia).

पापपूर्ण कृत्य कभी करुणा को जन्म नहीं दे सकता, साराश यह है कि हैमरतिया और नैतिक दोष साथ-साथ चल सकते हैं, परन्तु अकेला नैतिक दोष या पाप त्रासदी को जन्म नहीं दे सकता, उसके साथ अज्ञान से उत्पन्न भविष्य को समझ न पाने से उत्पन्न कोई विशिष्ट गलती भी होनी चाहिए।

(2) स्थिति विपर्यय– (Peripety) अरस्तू का मूल शब्द है 'परीपेतेइआ' जिसका अनुवाद अंग्रेजी में reversal किया गया है और अर्थ के विषय में विद्वानों में मतभेद है। बचूरे ने इसका अर्थ भाग्य विपर्यय किया है, पर उसका यह अर्थ ठीक नहीं। स्वय। अरस्तू ने भी अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया है।

"A peripetoia occurs where a course of action intended to produce a reuslt X, produce the reverse of X."

अत: 'पेरीपेतेइआ' कर स्थिति वह है जहां नायक की इच्छा और आशा के विपरीत कुछ घटित हो जाता है। अत: ऐसी स्थिति जो सर्वथा अप्रत्याशित और अनिच्छित हो और कारण मनुष्य विपत्ति में पड़े, पेरीपेतेइआ कहलाती है।

(3) अभिज्ञान (अनग्नोरिसिस)– अरस्तू के इस ग्रीक शब्द का अंग्रेजी में (Discovery) अनुवाद किया गया। उसका स्पष्ट अर्थ है– अज्ञान का ज्ञान में परिणत होना –"a change from ignorance to knowledge." ल्यूकस के शब्दों में अभिज्ञान का अर्थ है–

"Realsiation of the truth, the opening of the eyes, the sudden lighting flash in the darkness."

अत: अरस्तू के अनुसार त्रासदी के आदर्श कथानक में हेमरतिया, पेरेपेतेइका और अनग्नोरिसिस, अर्थात् त्रासद त्रुटि, स्थिति विपर्यय और अभिज्ञान तीनों का सद्भाव आवश्यक है।

त्रासदी के संगठन सम्बन्धी अंग– अरस्तू के अनुसार वे अंग जो त्रासदी के संगठन पर आश्रित हैं, चार हैं, प्रस्तावना, उपाख्यान, उपसंहार और वृन्दगान।

(1) **प्रस्तावना (Prologue)—** प्रस्तावना से अरस्तू का तात्पर्य त्रासदी के उस आरम्भिक भाग से है जो गायक वृद्ध के पूर्वगान से पहले रहता है और त्रासदी की कथावस्तु के लिए भूमिका प्रस्तुत करता है।

(2) **उपसंहार (Exode)–** उपसंहार त्रासदी का वह अंश है जिसके बाद कोर्ठ वृन्दगान नहीं होता। इसी को बाद के यूरोपीय नाटकों में 'अन्तिम घटना' या 'कैटेस्ट्रोफी' कहा गया है।

वह नाटक के महान् पात्रों के विरोध में सामान्य मानवजाति का प्रतिनिधित्व की विरोध (foil) का कार्य करता था, वही कार्य को जो शैक्सीपीयर के नाटकों में साधारण पात्रों, विदूषकों, भीड़ों तथा सामान्य जनता ने किया है।

वृन्दगान ने प्रगीत तत्व के समावेश से प्रक्षकों का मानसिक खिंचाव (tenstion) कम होता था। ये सब उपयोगी कार्य सम्पन्न करने पर भी नाटक का सहज अंग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नाटक की मूल कथा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता था। यसहीं उसके ह्रास का कारण हुआ।

इसके कारण अरस्तू का शब्द है Ethos, जिसके वास्ताविक अर्थ में विषय में विद्वानों में मतभेद है। बासाके की धारण है कि चारित्र्य का अर्थ है और सामान्य विशेषताएं प्रो. बूचर का मत है कि इनमें व्यक्ति के नैतिक गुण-दोषों के साथ ही व्यक्ति वैशिष्ट्य की ओर भी संकेत है। इन दोनों मतों में बूचर का मत अधिक शुद्ध है, क्योंकि अरस्तू की (Ethos) की परिभाषा में भी चाारित्र्य उसे कहते हैं जो किसी व्यक्ति की रुचि अरुचि का प्रदर्शन करता हुआ नैतिक प्रयोजन व्यक्त करें।

चरित्र-चरित्र के आधारभूत सिद्धांत– 'Poetics' के पन्द्रवें अध्याय में अरस्तू ने कहा है कि चरित्र चित्रण में नाटकार को चार बातों का ध्यान रखना चाहिए– 1. चरित्र अच्छा हो; 2. औचित्य का ध्यान रखा जाए 3. वह जीवन के अनुरूप हो, और 4. चरित्र में एकरूपता हो।

(1) चरित्र अच्छा (good) हो– 'good' जैसे कौरनीले ने अर्थ लिया है विभूतिमय (magnificient), ड्रेसियर ने उसका अर्थ लगाया है सु-अंकित (well marked) परन्तु वस्तुत: उसका अर्थ है शीलवान् (varituous) व्यक्ति, जो पूर्ण नहीं है वह भले ही पूर्ण पवित्रात्मा न हो, दृढ़ चरित्र पर होना चाहिए।

वह पूर्णत: अच्छा और सदाचवारी भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि ऐसे व्यक्ति को आपदग्रस्त देखकर हमारी न्याय-भावना को आघात पहुंचता है।

(2) औचित्य बाईवाटर ने उसका अर्थ किया है कि पात्र उस वर्ग से तनिक भी प्रतिकमल न हो जिसका वह सदस्य है–

Nothing at vanance with that of the which the indiviual belongs.

ल्यूकस ने उसका अर्थ किया है, वर्ग के प्रति सच्चा (true to type) वस्तुत: अरस्तू का अभिप्राय यह था कि लिंगभेद के आधार पर व्यक्तियों में गुण-भेद होता है। वस्तुत: अरस्तू से भावुक, उदार हेती है और उसमें धूर्तता प्राय: कम होती है; पुरुष में शौर्य और पुरुषता होती है। अत: नाटक में स्त्री को पुरुष को रोदनशील, भावुक न दिखाया जाए, वे केवल कठपुटली या सांचे मात्र बनकर रह जाएं।

दनतकथाओं और पुराणों में किसी पात्र को वीर चित्रित किया गया है, तो उसे वीर हिकी चित्रित किया जाय, कायर नहीं। फिर भी जो स्वतन्त्रता वह कथानक रचना में नाटककार को देता है, उससे स्पष्ट है कि बाईवाटर की बात ठीक नहीं है और औचित्य से उसका अभिप्राय यही है कि पात्र अपने वर्ग, सामाजिक तथा राजनीतिक स्तर और वातावरण (environment) के अनुरूप हो, भले ही उसमें व्यक्तिगत विशेषताएं भी हों।

(3) अनुरूपता– अरस्तू का कथन है, The thrid is to make them like.... ''प्रश्न उठता है किसके अनुरूप? बाईवाटर का मत है कि अनुरूप (likeness of the original) अर्थात् इतिहास, दन्तकथा पुराण में पात्र जैसा चित्रित हुआ है, उसके अनुरूप। परन्तु यदि हम इस मत का स्वीकार करते हैं, तो कवि की स्वतन्त्रता का अपहरण करते हैं।

नाटक के पात्र स्वाभाविक होने चाहिए, वे जीते-जागते नर-नारी होने चाहिए। जैसे कि जीवन में होते हैं, पर कार्बनकापी नहीं उनमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन करने का अधिकार कवि का होना चाहिए।

चरित्र-चित्रण में एकरूपता में निर्वाह पर बल दिया है, चरित्र में एकरूपता पर नहीं। चरित्र में तो अस्थिरता होती है यह आस्थिरता ही उसका व्यावर्तक धर्म हो जाती है और नाटककार को इसका समुचित निर्वाह करना चाहिए। पात्र का विकास किसी ऐसे सिद्धांत के आधार पर होना चाहिए जो समझ में आ सके। परिवर्तन के बीज पात्र में संस्कारों में होने चाहिए और उन संस्कारों का संकेत नाटककार को परिवर्तन से पूर्व ही दे देना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि किसी क्रूर जमींदार को नाटक के अन्त में उदार लिखाया जाता है, तो उस उदारता के बीच उसके आरम्भिक चरित्र में ही प्रच्छन्न रूपन से डाल देने चाहिए जो परिस्थितियों का खाद और जल पाकर बाद में पल्लवित होने पर अस्वाभाविक या नितान्त आकस्मिक प्रतीत न हो।

त्रासदी का आदर्श नायक– त्रासदी के नायक के ऐसा होना चाहिए जिसके कृतित्व को देखकर या पढ़कर हमारे मन में ये दोनों भाव जाग्रत हों। अरस्तू का मत है कि वह पूर्णत: निर्दोष न हो, अपने दोष के अनुपात में अधिक दोष के अनुपात से अधिक कष्ट पाये तथा प्रेक्षकों के समान हो। उसमें किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष का चित्रण भी नहीं रहना चाहिए।

अरस्तू ने पूर्णत: खल मनुष्य को भी त्रासदी का नायक होने के लिए अपात्र ठहराया है।

अरस्तू के अनुसार आदर्श नायक में निम्नलिखित विशेषताएं होनी चाहिए–

(1) वह सहज मानव भावनाओं से युक्त हो।

(2) वह अत्यन्त वैभवशाली यशस्वी और कुलीन हो।

(3) मूलत: सज्जन होते हुए भी वह पूर्णत: निर्दोष नही होना चाहिए। उसमें कोई न कोई भूल करने की कमजोरी होती है।

3. विचार-तत्व– इसके अन्तर्गत बुद्धि तत्व और भाव-तत्व दोनों का समावेश किया गया है। त्रासदी का आधारभूत विचार लेखक का ही विचार होता है जिसे वह चरित्र-चित्रण, पात्रों के सम्भाषण, घटनाओं के नियोजन आदि द्वारा प्रस्तुत करता है। विचार तत्व त्रासदी में अधिकाधिक नियोजित किया जाता रहा। और इसका चरम उत्कर्ष हमें 'Discussion plays' में मिलता है।

4. पदावली (Diction)– त्रासदी के लिए अलंकृत भाषा को आवश्यक मानता है और अलंकृत भाषा के सम्बन्ध में कहता है, 'मेरा अभिप्राय ऐसी भाषा से है जिसमें लय, सामंजस्य और गीत त्रासदी के लिए वह पद्य अर्थात् शब्दों का छन्दोबद्ध विन्यास उपयुक्त मानता है। भाषा-शैली के सम्बन्ध में अरस्तू के दो नियमों का पालन वांछनीय बताया है वह प्रसादगुण सम्पन्न हो तथा क्षुद्र न हो–

"The perfection of style is to be clear without being mean."

जिस प्रकार त्रासदी का विषय भव्य होता है, उसी प्रकार उसकी भाषा भी अनंकृत और भव्य होनी चाहिए और उसके लिए कवि में प्रतिभा आवश्यक है।

5. दृश्य-विधान– उसके अनुसार इसका सम्बन्ध कवि की अपेक्षा मंच-शिल्प की कला से अधिक है। दृश्य विधान का अर्थ है रंगमंच की साज-सज्जा पात्रों की वेशभूषा आदि जो रंगमंच के साधनों के कुशल प्रयोग से उपस्थित की जाती है।

6. संगीत– अरस्तू ने संगीत को भी त्रासदी का अनिवार्य अंग माना है, क्योंकि उसके द्वारा त्रासदी का विषय और वातावरण अधिक गम्भीर, प्रभावशाली और भव्य हो जाता है।

त्रासदी से आनन्द– अरस्तू ने 'poetics' में बार-बार त्रासदी आनन्द (Tragic pleasure) का उल्लेख किया है। त्रासदी के आनन्द के सम्बन्ध में अरस्तू कहता है–

"The tragic pleasure is that of pity and fear and the poet has to produce it by a work of imitation.

अर्थात् जब त्रास और करुणा के भावों का सफल अनुभव होगा तभी आनन्द भी होगा। अनुकरण का आनन्द भी दो प्रकार का होता है– एक तो मूल की सच्ची प्रतिकृति देखकर उत्पन्न होने वाला बौद्धिक आनन्द और दूसरा वह आनन्द जो अनुकरण की सच्चाई और गम्भीरता के कारण हमें पात्रों के साथ साधरणीकृत होने पर अनुभव होता है जिसे हम सहानुभूति का आनन्द कह सकते हैं और जिसके लिए कवि में साधरणीकरण की शक्ति होनी चाहिए। वस्तुत: त्रासदी देखते समय प्रेक्षक को दोनों प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि त्रासदी को देखने से उत्पन्न होने वाला आनन्द परपीड़न से उत्पन्न (sadistic) और विद्वेषपूर्ण (malicious) होता है। जिस प्रकार पुराने जमाने में हम आदमी को शेर या अन्य जंगली पुश से लड़ते तथा उसे लहूलुहान देखकर आनन्द का अनुभव करते हैं, उसी प्रकार त्रासदी को देखकर भी हमें आनन्द आता है, पर यह मत पूर्णत: ठीक नहीं है, उसमें अधिक से अधिक आंशिक सत्य हो सकता है। इससे मिलता-जुलता पर भिन्न मत है कि त्रासदी का आनन्द स्वपीड़नजन्य (masochistic) है, अर्थात् हम दूसरे के कष्ट को देखकर सुखी नहीं होते, अपितु स्वयं को कष्ट में पाकर सुख पाते हैं और चूंकि त्रासदी की करुण कथा हमें दु:ख में डालती है, अत: हमें सुख होता है पर यह मत भी आंशिक रूप से ही सत्य है, क्योंकि स्वपीड़क (masochistic) व्यक्ति बहुत कम होते हैं। ह्यूम तथा ऐबे ड्यूबोस कहते हैं कि जो प्रेक्षक त्रासदी देखने इसलिए जाता है वह ऊबने से तो दु:खी होना भी अधिक सुखकर मानता है। इस मत में ही थोड़ा सत्य है, पर पूर्ण सत्य उक्त मतों में से किसी भी मत में नहीं है।

उनकी इसी दृढ़ता को देखकर हमारा मन सन्तोष और सुख पाता है।

वह मनुष्य को उसकी दुर्बलताओं और शक्तियों के साथ प्रस्तुत कर मानव-चरित्र का ज्ञान कराती है। जीवनाभुवन बढ़ाने के कारण भी हम त्रासदी से सुख पाते हैं।

आई.ए. रिचर्ड्स के अनुसार, 'दया प्रवृत्तिमूलक भाव है और भय निवृत्तिमूलक, ताकि पीड़ित व्यक्ति का दु:ख दूर हो सके। हम भय से दूर भागना चाहते हैं। अत: त्रासदी देखते समय जब हमें इन दो विरोधी भावों की अनुभूति होती है तो एक सन्तुलन का अनुभव होता है। इसी सन्तुलन में आनन्द है।'

मानसिक स्वास्थ्य के लिए भावातिरेक या भावावेश निश्चय ही अनिष्टकर है। इसके कारण मनुष्य अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठता है। अरस्तू का अभिप्राय यही था कि त्रासदी करुण तथा त्रास के अवांछित अंश को उभारकर निकाल लेती है फलतः मनोभावों में सामंजस्य स्थापित होता है जो मानसिक स्वास्थ्य के लिए हितकर है उदाहरण के लिए यद्यपि ताप शरीर का आवश्यक गुण है तथापि जब वह साधारण तापमान से बढ़ जाता है तो रोग को, और कम होने पर दुर्बलता को जन्म देता है; तो भावों के नितान्त अभाव में वह मानव ही नहीं रह जाता। दोनों स्थितियाँ अति (extreme) की द्योतक हैं, उनसे बचना ही कल्याणकारी है।

अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त अपने ढंग से त्रासदी के आस्वाद की समस्या का समाधान करता है। उनके अनुसार त्रास और करुणा दोनों ही कटुभाव है। त्रासदी में मानसिक विरेचन की प्रक्रिया द्वारा यह कटुता नष्ट हो जाती है और प्रेक्षक मनःशान्ति का उपभोग करता है। मन की यह स्थिति सुखद होती है। अरस्तू का विरेचन से इतना ही अभिप्रेत था। प्रो॰ बूचर ने त्रास और करुणा के साधारणीकृत रूप में उपस्थित होने तथा अव्यवस्था में व्यवस्था की स्थापना द्वारा कलात्मक प्रक्रिया की बात कही है। डॉ॰ नगेन्द्र इसे अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त में अन्तर्भूत नहीं मानते है और विरेचन सिद्धान्त की यह सीमा बताता है कि उस प्रक्रिया द्वारा प्रेक्षक मनःशान्ति का अनुभव करता है पर आनन्द का उपभोग नहीं कर पाता।

त्रासदी में प्रदर्शित भाव अवास्तविक होते हैं, अतः वे हमारे भावों को उत्तेजित नहीं कर पाते, विरेचन की तो बात ही नहीं। नाटक में हम केवल कला का (अभिनय, रंग-सज्जा, संगीत आदि) ही आस्वादन करते हैं। आक्षेप भी बड़ा दुर्बल है और काव्य तथा जीवन के सम्बन्धों की एकदम विच्छिन्न कर देने वाला है। क्या शेक्सपियर का हैमलेट देखकर हमें केवल कला का आस्वाद प्राप्त होता है? हम 'हैमलेट' या भारतेन्दु कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक के प्रतिफल नहीं है, रागात्मक प्रभाव की परिणति है। अरस्तु की अपनी परिभाषा के अनुसार भी दोनों ही दुःखद अनुभूति के भेद हैं। त्रास में किसी आसन्न, घातक अनिष्ट से उत्पन्न कटु अनुभूति होती है, तो करुणा उस समय उत्पन्न होती है जब हम किसी निर्दोष व्यक्ति को अनिष्ट में पड़ा देखते हैं। पर त्रासदी में वे वैयक्तिक दंश से मुक्त हो साधारणीकृत रूप में उपस्थित की जाती है।

हैमलेट का दुःख अपना संकुचित दुःख नहीं, उसके दुःख को देख हमारा हृदय विस्तीर्ण हो उठता है हमें अपने दुःख क्षुद्र प्रतीत होने लगते हैं। हमें विश्वास होने लगता है कि भय या त्रास से भी अधिक श्रेष्ठ जीवन मूल्य हैं। हम अपने स्व को भूलने लगते हैं, स्व का पाश टूट जाता है और आत्मविकास होने लगता है। यह विकास ही वास्तव के दृश्य पात्र या स्थिति के साथ साधारणीकरण का कारण बनकर तदानुरूप एवं व्यापक अर्थों में सुखद अनुभूति प्रदान करता है– क्योंकि तब प्रश्न व्यक्ति का न रहकर मूल्य का बन जाता है। प्रो॰ बूचर का दूसरा तर्क है कि त्रासदी कलात्मक सृजन है जो सुखद होता है। कलात्मक प्रक्रिया में पड़कर त्रास और करुणा का देश नष्ट हो जाता है, दुःख सुख में बदल जाता है। डा॰ नरेन्द्र का कहना है कि यदि अरस्तू को इन दोनों तत्वों को विरेचन सिद्धांत में अंगभूत करना होता, तो वह उनका विवेचन सिद्धांत के ही अन्तर्गत करते, पर उन्होंने इन दोनों तत्वों से अवगत होते हुए ऐसा नहीं किया है।

केवल अभावात्मक रूप रहता है अर्थात् मनःशान्ति और विशदता। पर क्या मनः शक्ति और विशदता आनन्द नहीं हैं?

विरेचन और करुण रस

अरस्तू प्रतिपादित त्रासद-प्रभाव तथा भारतीय काव्य-शास्त्र के करुण रस के अस्वाद वाले सिद्धांत में पर्याप्त साम्य भी है और वैषम्य भी। दोनों के आधार दुःखद मनोवेग हैं; परन्तु एक में अर्थात् त्रासदी

में करुणा और त्रास हैं तो दूसरे अर्थात् करुण रस में शोक है। करुणा और त्रास में पीड़ा की अनुमति का प्राधान्य तो ही है, बन्धन वध आदि के कारण त्रास भी हो सकता है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायेगी। जब हम 'सत्यवादी हरिशचन्द्र' नाटक देखते हैं, जो त्रासदी है, तो हमे राजा हरिशचन्द्र को राज्य दान के बाद दक्षिणा चुकाने के लिए स्वयं अपने को बेचने के लिए इधर-उधर भटकते तथा अन्त में चांडाल के हाथ बिकते देखकर त्रास होता है और रानी को पुत्र की मृत्यु पर विलाप करते देख करुणा उपजती है। वास्तविक विपत्ति के साक्षात्कार से यदि करुणा उद्भूत होती है, तो वैसी ही विपत्ति की पुनरावृत्ति की आशंका से त्राम की उद्भूति होती है।

शोक के जो लक्षण नाट्य-शास्त्र साहित्य-दर्पण, दशरूपक आदि में दिए गए हैं, उससे भी यही सिद्ध होता है कि करुण रस में त्रास और करुणा दोनों समाविष्ट होते हैं।

यहाँ तक तो अरस्तू के त्रासद-प्रभाव तथा भारतीय काव्य-शास्त्र के करुण रस में समानता है। त्रासदी का प्रभाव मिश्र भाव होता है, तो शोक अमिश्र भाव है। उदाहरण के लिए, भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' में सीता के महाप्रस्थान के प्रसंग में शोक है, त्रास नहीं।

3.10 उपसंहार

सारांश यह है कि 'विरेचन सिद्धान्त' अपनी समस्त शक्ति तथा सीमाओं सहित पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में अरस्तू की एक महत्त्वपूर्ण देन है। अपने ग्रन्थों में 'विरेचन' शब्द का प्रयोग कर अरस्तू ने प्लेटो के आक्षेप का उत्तर दिया, काव्य की महत्ता स्थापित की, त्रासदी के प्रभाव को गौरवपूर्ण बनाया।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि त्रासदी पाठक या प्रेक्षक को प्रभावित क्यों करती है? उससे आनन्द क्यों आता है? त्रासदी का अनुशीलन करते हुए हमें जो अनुभूति होती है, वह निश्चय ही शोकपूर्ण होती है पर वह केवल दु:ख की दृश्यावली प्रस्तुत नहीं करती वह हमारे मन पर केवल दु:ख का आघात नहीं करती। कथा से त्रासदी का निर्माण नहीं हो सकता क्योंकि हम खल पात्र से नहीं सहानुभूति कर सकते हैं।

त्रासदी देखकर प्रेक्षक को यह प्रतीत होने लगता है कि दु:ख अटल है, उसे जीवन की उस अन्तर्व्यवस्था (नियति) का ध्यान भी होने लगता है जिसके आगे मानव विवश है। त्रासदी के मुख्य पात्र को दुर्धर्ष परिस्थितियों के साथ साहसपूर्वक संघर्ष करते हुए देखकर भी पाठक उत्साह, सहिष्णुता, साहस, गरिमा आदि भावों से अनुप्रेरित होता है, मानव की महानता की विजय में उसका विश्वास दृढ़ होता है। यह भी त्रासदी की महत्त्वपूर्ण देन है।

त्रासदी का नायक नितांत निर्दोष और पवित्र भी नहीं होता। त्रासदी का नायक न तो बहुत अधिक न्यायपूर्ण और सज्जन होता है और न पूर्णत: निर्दोष। वह हमारी ही तरह गुण-दोषों का पुंज होता है, पर उसमें हमसे अधिक कतिपय विशेषताएं होती हैं और वे विशिष्ट मूल्यों के रूप में होती हैं। अत: संत्रास व्यक्ति के ह्रास के कारण उतना उत्पन्न नहीं होता, जितना कि मूल्यों के ह्रास के कारण।

त्रासदी के मुख्य पात्र की गरिमा धरोदात्त नायक जैसे गुण, उसकी भावना और मानवीय मूल्य आदि पाठक को प्रभावित करते हैं।

सच्ची दु:खान्त रचना हमें अर्न्तमुखी भी बनाती है, केवल रचना के पात्रों के सम्बन्ध में ही नहीं अपितु मानव पात्र तथा जीवन के मूल्यों के सम्बन्ध में भी सोचने को विवश करती है यह भी उसके प्रभावशाली होने का एक अन्य कारण है।

सच्ची त्रासदी श्रेष्ठ जीवन -मूल्यों से भी पाठक को परिचित कराती है, उसके मन में असहायता का भाव उत्पन्न नहीं होने देती, बल्कि उसे सबल बनाती है। वह उसमें जीवन से पलायन करने की प्रवृत्ति को जन्म नहीं देती, दारुण दु:खों का सामना करने का सन्देश देती है, हमारा मनोविकास करती है, अरिस्टोलिट के शब्दों में 'कैथरिसिस' उत्पन्न करती है।

यदि हम उपर्युक्त सभी प्रयोजनों पर दृष्टि रखकर इनका विभाजन करें तो इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है– आंतरिक प्रयोजन और बाह्य प्रयोजन। आनन्द प्रदान करना काव्य का आंतरिक प्रयोजन है और शेष सब बाह्य प्रयोजन हैं। यदि बाह्य प्रयोजनों का विशेषण किया जाये तो उनकी परिगति भी अंततोगत्वा आनन्द में ही होती है, क्योंकि धन, यश, सुधार, उपदेया, जीवन से पलायन मनोविनोद आदि आनन्द के ही साधन हैं। अत: कहा जा सकता कि आनन्द ही काव्य का मूल प्रयोजन है। प्रकारान्तर से पाश्चात्य विवेचकों एवं आचार्यों ने भी आनन्द वाद को ही प्रमुखता दी है, यद्यपि उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुपरक प्रयोजन भी उपेक्षणीय नहीं हैं।

बोध प्रश्न

1. अरस्तू ने किस सूत्र की नवीन व्याख्या की?

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

2. अरस्तू के प्रमुख ग्रन्थ का नाम लिखिए।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

सारांश

अरस्तू ने प्लेटों द्वारा प्रयुक्त (Mimesis) शब्द को ग्रहण करते हुए उसे नया अर्थ दिया। प्लेटो ने उसका अर्थ gwoyw नकल करना माना था परन्तु अरस्तू उसे सीमित अर्थ में स्वीकारा एवं उसकी व्याख्या की। कविता के उपलब्ध होने की सहज प्रवृत्तियाँ है– अनुकरण। कला प्रकृति का अनुकरण करती है। आजकल इसका प्रयोग शिल्प अर्थ में होता है। अरस्तू ने विरेचन सिद्धान्त को पारिभाषित नहीं किया है। वहाँ उन्होंने त्रासदी को परिभाषित किया है। एक अन्य स्थल पर विवेचन का प्रयोग राजनीति शास्त्र नामक ग्रन्थ में किया है। अरस्तू ने परवर्ती व्यावयाकारों के लक्षण के आधार पर विरेचन के तीन अर्थ किये है– 1. धर्मपरक, 2. नीतिपरक, 3. कलापरक। विरेचन सिद्धान्त अरस्तू की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

खंड

4

लोजाइनस उदात्त सिद्धान्त

पाठ का प्रारूप

4.1	उद्देश्य
4.2	भूमिका
4.3	लोंजाइनस द्वारा उदात्त की व्याख्या
4.4	अन्तरंग तत्त्व
4.5	बहिरंग पक्ष
4.6	काव्य में उदात्त का महत्त्व
❑	बोध प्रश्न
❑	सारांश

4.1 उद्देश्य

इस खंड के अधययन के पश्चात्-विद्यार्थी योग्य होगें-

- लोंजाइनस द्वारा उदात्त की व्याख्या को समझने में।
- अन्तरंग तत्त्व को समझने में।
- बहिरंग पक्ष को समझने में।
- काव्य में उदात्त के महत्त्व को समझने में।

4.2 भूमिका

यूनानी काव्य शास्त्र में पेरिइप्सुष को महत्त्वपूर्ण माना जाता है इसका आशय है– औदात्य, ऊँचाई। इसका On the subtime नाम से अनुवाद हुआ है। पेटिइप्सुस का लेखक लोंजाइनस को माना जाता है उस पर प्लेटों का अंधिक प्रभाव था। उसने उस काल के मोहक गुण तथा उसकी वेद्यान्तर को विचलित करने की शक्ति को महत्ता दी।

लोंजाइनस द्वारा उदात्त की व्याख्या, उदात्त के अन्तरंग, तथा बहिरंग तत्व, काव्य में उदात्त का महत्त्व, लोंजाइनस का योगदान।

4.3 लोंजाइनस द्वारा उदात्त की व्याख्या

लोंजाइनस मत है कि उदात्तता साहित्य के सब गुणों में महान् है; यह वह गुण है जो अन्य क्षुद्र त्रुटियों के बावजूद साहित्य को सच्चे अर्थों में प्रभावपूर्ण बना देता है। उसने उदात्त से बहिरंग एवं अंतरंग तत्वों की ओर भी संकेत किया। इस विवेचन में उन्होंने पाँच तत्वों को आवश्यक ठहराया। (1) महान् धारणाओं की क्षमता या विषय की गरिमा (2) भावोवेश की तीव्रता, (3) समुचित अलंकार-योजना, (4) उत्कृष्ट भाषा तथा (5) गरिमामय रचना-विधान। इनमें से प्रथम दो जन्मजात हैं, अत: उसके अतंरंग पक्ष के अर्न्तगत आते हैं, तो शेष तीन कलागत हैं और बहिरंग पक्ष को अर्न्तगत आते हैं। उन्होंने उन तत्वों का भी उल्लेख किया है जो औदात्य के विरोधी हैं। (1) अन्तरंग तत्व, (2) बहिरंग तत्व और (3) विरोधी तत्व।

अन्तरंग तत्व– 1. उदात्त विचार व विषय की गरिमा (Grandeur of concept)– उनके अनुसार उस कवि की कृति महान् नहीं हो सकती जिसमें महान् धारणाओं की क्षमता नहीं है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है, "यह सम्भव नहीं है कि जीवन-भर क्षुद्र उद्देश्यों और विचारों में ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर सके। महान् शब्द उन्हीं के मुख से नि:सृत होते हैं जिनके विचार गम्भीर और गहन हों।"

उनका मत है कि विषय के महत्व से काव्य में आनन्दतिरेक का तत्व आता है। उनके अनुसार यद्यपि यह कार्य प्रतिभा द्वारा ही सिद्ध होता है, तथापि महान् कवियों की कृतियों का अनुशीलन भी सहायक हो सकता है। वह चाहते हैं कि नये कवि उनसे संस्कार ग्रहण करें, उनकी शक्ति प्राप्त करें।

वह उदात्त विचारों के लिए कल्पना और प्राचीन काव्यानुशीलन को आवश्यक मानते थे। वह श्रेष्ठ रचना के लिए उसके विषय का विस्तारपूर्ण होना आवश्यक समझते हैं। वे विषय में ज्वालामुखी के समान असाधारण होना आवश्यक समझते हैं। उनका मत है कि विषय में ज्वालामुखी के समान असाधारण शक्ति और वेग होना चाहिए तथा ईश्वर का सा ऐश्वर्य और वैभव भी।

(1) समुचित अलंकार-योजना– लौंजाइनस ने सम्बन्ध मनोविज्ञान से जोड़ा और मनोवैज्ञानिक प्रभावों को व्यक्त करने के निमित्त की अलंकारों को उपयोगी ठहराया। वह अलंकार को तभी उपयोगी मानते थे जब अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करें, लेखक के भावावेग से उत्पन्न हुआ हो, पाठक को आनन्द प्रदान करे, उसे केवल चमत्कृत न करे। अत: उनका अलंकार-सम्बन्धी विवेचन उत्यन्त मार्मिक है।

उन्होंने विस्तारणा, अतिशक्तियोति, प्रश्नलंकार, विपर्यय, व्यतिक्रम, पुनरावृत्ति, छिन्न-वाक्य प्रत्यक्षीकरण, संचयन, सार, रूप-परिवर्तन, पर्यायोक्ति आदि का विवेचन किया है।

"Beautiful words, he adds, are in truth the very light of thought."

उनका विचार है कि अनुकूल ध्वनि के शब्दों का चयन काव्य में मोहकता की सृष्टि करता है। उनके इस विचार में हम भाषा सम्बन्धी आधुनिक विचारों की स्पष्ट झलक पाते हैं।

उसने कहा कि अनुभूति की तीव्रता को व्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग किया जाए, यह एकमात्र नियम है; अन्य सब नियम अधूरे तथा अपूर्ण हैं। हर जगह गरिमामयी भाषा का प्रयोग उचित नहीं है। उसका प्रयोग प्रसंग के अनुरूप ही होना चाहिए, छोटी-छोटी बातों को बड़ी-बड़ी और भारी-भरकम संज्ञा देना किसी छोटे-से बालक के मुँह पर पूरे आकार वाला त्रासद अभिनय का मुखौटा लगा देने के समान है।

(3) रचना-विधान– उनके अनुसार रचना-विधान गरिमामय होना चाहिए। रचना-विधान के अर्न्तगत शब्दों, विचारों, कार्यों, सुन्दरता तथा राग के अनेक रूपों को संगुम्फन होता है। उनकी दृष्टि में रचना का प्राण-तत्व है सामंजस्य, जो उदात्त शैली के लिए अनिवार्य है।

उनके अनुसार कल्पना वह शक्ति है जो पहले कवि को मानसिक रूप में वर्ण्य विषय का साक्षात्कार करा देती है और फिर जिसकी सहायता से कवि भाषा में चित्रात्मकता द्वारा वर्ण्य को ऐसे प्रस्तुत करता है कि वह

श्रोता-पाठक के सम्मुख जीवन्त और प्रत्यक्ष हो उठता है। लोंजाइनस की कल्पना सम्बन्धी यह धारणा आज की कल्पना विषयक धारणा से भिन्न नहीं है।

विरोधी-तत्व--लोंजाइनस ने उन तत्वों को भी स्पष्ट किया है, जो उदात्त के विरोधी हैं। उन्होंने बालेयता (हल्कापन) को औदात्य का विरोधी माना है। चंचल पद-गुम्फन, असंयत वाग्विस्तार, हीन और क्षुद्र अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग– ये सब उदात्त शैली के अपकारक हैं, अतः त्याज्य हैं। भावाडम्बर और शब्दाडम्बर विरोधी, कुस्सित, क्षुद्र अर्थ वाले शब्द यदि भाषा के कलंक हैं, तो उनमें विचारों को ठूँसने से संतिक्षप्तता तो आ जाती है और विषय की गरिमा नष्ट हो जाती है–

"Extreme consiseness cramps and cripples the thought: whereas brevity in the true sense is effective because of its economy and directions."

भारतीय काव्यशास्त्र में उदात्त की परिकल्पना का अभाव तो नहीं है, पर उसका विवेचन समग्र रूप में एक स्थान पर नही है, उदात्त के लक्षण खण्डशः ही उपलब्ध होते हैं, जैसे धीरोदात्त नायक वीर रस, अद्भुत रस, ओज गुणी रीति आदि के प्रसंगों में।

अतः यह मानना पड़ेगा कि उदात्त का विश्लेषण और समग्र विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र में उतना नहीं जितना लोंजाइनस के पेरि दपसुस में। उसकी सबसे बड़ी देन है यह है कि उसने दोषपूर्ण महान् कृति को निर्दोष साधारण कृति से ऊँचा माना है, क्योंकि महान कृति में ही दोषों की सम्भावना हो सकती है–

"Great flights of necessity involve great risks from which pedestrian natures are free."

नितान्त निर्दोष कृति में क्षुद्रता की सम्भावना अधिक होती है–

"Unfailing accuracy savours somewhat of pettiness."

इस प्रकार लोंजाइनस के विचार अत्यन्त मौलिक, सार्वभौमिक एवं चिरन्तन हैं। एटकिन्स ने कहा है–

"There are things in its pages that can never grow old; while its freshness and light will continue to charm all ages."

यूनानी-काव्य-शास्त्र में अरस्तू की प्रसिद्ध रचना 'पेरि पोइतिकेस' के उपरान्त 'पेरि इप्सुस' का दूसरा स्थान है। 'पेरि इप्सुस' का अर्थ है– औदात्य, ऊँचाई। इस निबन्ध का अंग्रेजी में 'On the sublime' नाम से अनुवाद हुआ है। जिस प्रकार 'कुन्तक' का 'वक्रोक्तिजीर्वितम्' कई सौ वर्ष तक अज्ञात पड़ा रहा, उसी प्रकार 'पेरि इप्सूस' भी शताब्दियों तक विस्मृति के गर्भ में पड़ा रहा। 1554 ई० में पहली बार उसको प्रकाशित किया गया। उस पर लेखक का नाम दिया गया था– 'दि औन्युसिअस लोगिनुस' जिसे अंग्रेजी में 'डाइनोसियस लोंजाइनस' उच्चरित किया जाता है। 19वीं शताब्दी के आरम्भ में इस सम्बन्ध में शंकाएँ व्यक्त की जाने लगीं। कुछ आलोचक विद्वान 'पेरि इप्सुस' का लेखक जेनोबिया के मंत्री लोंजाइनस को मानते थे; जो अपनी वीरता और विदग्धता के लिए इतिहास में प्रसिद्ध है। स्कॉट जेम्स ने अत्यन्त उच्छ्वसित भाषा में 'पेरि इप्सुस' का लेखक उसी लोंजाइनस को माना है जिसने बड़ी निष्ठा के साथ महारानी जेनोबिया की सेवा की, जिसने रेगिस्तान में 'पालम्यूरा' का महान् नगर बसाया और गिबन के शब्दों में जिसने चुपचाप अपनी स्वामिनी के दिए प्राण दे लिए। हम भी तृतीय शताब्दी वाला लोंजाइनस ही मानते हैं। यद्यपि वह प्लेटों से अत्यधिक प्रभावित था, विशेषतः उसकी प्रभविष्णु शैली तथा साहित्य के प्रति भावुक दृष्टिकोण से, परन्तु उसने काव्य के मोहक गुणों तथा उसकी वेद्यान्तर विचलित करने की शक्ति की, जिनकी प्लेटो ने निन्दा की थी, प्रशंसा की। जिस भावोत्कर्ष, आह्लाद तथा दिव्य आनन्दानुभूति को प्लेटो काव्य-जगत् से बहिष्कृत करना चाहता था, उन्हें उसने काव्य के लिए आवश्यक समझा। यह अलंकार-शास्त्री (Rhetorician) था अतः उनका व्याकरण-शास्त्र, निबन्ध-रचना-शास्त्र, विश्लेषणात्मक आलोचना-शास्त्र का अध्ययन पर्याप्त व्यापक था और वह कला के नियमों, शब्दों के शुद्ध प्रयोग और उनके उपयुक्त चयन, छन्द और अलंकारों के सम्यक् प्रयोग पर भी बहुत बल देता था। लोंजाइनस से पूर्व साहित्यकार का कर्त्तव्य-कर्म समझा जाता था "To instruct, to delight, to

persuade" अर्थात् शिक्षा देना, आह्लाद प्रदान करना और बात मनवाना। कुल मिलाकर आदर्शवादी दृष्टियाँ ही प्रबल थीं।

उसका विश्वास था कि प्रतिभा या सौन्दर्य शक्ति आकाश से यूँ ही नहीं टपक पड़ती, उसके लिए सतत् अभ्यास अपेक्षित होता है वह कुशल अलंकार-शास्त्री (Rhetorician) था, अत: उसने 'उदात्त' के स्रोतों की चर्चा करते समय उसके कलात्मक या बहिरंग पक्ष की भी चर्चा की– वस्तुत: लोंजाइनस में स्वछन्दतावाद (romanticism) और अभिव्यंजनावाद (classicism) दोनों के तत्व विद्यमान है। वह एक अत्यन्त संतुलित विचाराधारा वाला समन्वयवादी विचारक तथा आलोचक था, अत: उसने काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों में औदात्य का समर्थन किया।

यही कारण है कि उसने विचार तत्व और पद-विन्यास को एक-दूसरे से सम्बद्ध माना– "विचार और पद-विन्यास अधिकतर एक-दूसरे के आश्रम में विकसित होते हैं।"

लोंजाइनस की दृष्टि में भव्य कविता वही है जो आनन्दातिरेक के कारण हमें इतना निमग्न और तन्मय कर दे कि हम अपना भान भूल जाएं और ऐसी उच्च भाव-भूमि पर पहुंच जाएं जहां निरी बौद्धिकता पंगु हो जाती है और वर्ण-विषय विद्युत प्रकाश की भांति आलोकित हो उठता है।

उदात्त का स्वरूप

अब हम लोंजाइनस के 'उदात्त तत्व' पर विचार करें। उसने उदात्त की परिभाषा नहीं दी है– अत: लगता है कि उसे स्वत: स्पष्ट तथ्य मानकर छोड़ दिया है। उसकी दृष्टि व्यावहारिक तथा मनौवैज्ञानिक दोनों प्रकार की थी, अत: उसने जहां एक उदात्त के बहिरंग तत्वों की चर्चा की, वहाँ उसके अंतरंग तत्वों की ओर की संकेत किया। उदात्त के इस विवेचन में उन्होंने 5 बातों को आवश्यक ठहराया महान् धारणाओं की क्षमता, विषय की गरिमा, भावावेश की तीव्रता, समुचित अलंकार योजना, उत्कृष्ट भाषा तथा गरिमामय रचना-विधान। इनमें से प्रथम दो जन्मजात हैं अत: अन्तरंग पक्ष के अंतर्गत आती है बात को स्पष्ट करने के लिए उन तत्वों का भी उल्लेख किया जो औदात्य के विरोधी हैं। इस प्रकार उनके अन्तर्गत उदात्त के स्वरूप विवेचन के तीन पक्ष को जाते हैं– (1) अतरंग तत्व (2) बहिरंग तत्व और (3) विरोधी तत्व।

4.4 अन्तरंग तत्त्व

उदात्त विचार या विषय की गरिमा– लोंजाइनस के अनुसार उस कवि की कृति महान् नहीं हो सकती जिसमें महान् धारणाओं की क्षमता नहीं है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है, 'यह सम्भव नहीं है कि जीवन-भर क्षुद्र उद्देश्य और विचारों में ग्रस्त व्यक्ति कोई स्तुत्य एवं अमर रचना कर सके। महान् शब्द उन्हीं के मुख से नि:सृत होते हैं जिनके विचार गम्भीर और गहन हों।" विषय के महत्त्व तथा अनुक्रम की श्रेष्ठता से काव्य में आनन्दातिरेक का तत्व आता है जिसका तत्काल ही स्थायी प्रभाव पड़ता है। विषय ऐसा होना चाहिए जिसका पाठक-श्रोता पर उत्कट तथा स्थायी प्रभाव पड़े "जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नहीं लगभग असम्भव हो जाए और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाए न मिटे" सारांश यह है कि उदात्त के सम्बन्ध में लोंजाइनस का मत यह है कि जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, वह अनन्त विस्तार वाला हो तथा उसमें असाधारण शक्ति, वेग, अलौकिक ऐश्वर्य तथा उत्कट प्रभाव-क्षमता हो और इसके लिए उन्होंने प्रतिभा तथा महान् कवियों के ग्रन्थों का अनुशीलन आवश्यक माना है।

4.5 बहिरंग पक्ष

लोजाइनस प्रतिभा को प्राकृतिक मानते हैं और कहते हैं कि उसके लिए सदैव कोई नियम नहीं बनाए जा सकते, फिर भी प्रकृति के अनुशीलन से प्रकट होता है कि उसकी अभिव्यक्ति में एक व्यवस्था है और वह भी नियमानुसार कार्य करती है। इसी कारण उन्होंने प्रतिभा के साथ कविता को अभ्यास-साध्य भी माना है। अत: उपलब्ध है उसमें उन्होंने मूलत: उन्हीं तत्वों पर, अधिक बल दिया है जिनके द्वारा काव्य बहिरंग– भाषा, शैली, रचना-विधान आदि पुष्ट होते हैं। उन्हें वह 'कला की उपज' मानते हैं। उन्होंने कलागत उदात्त के तीन तत्त्व माने हैं– 1. समुचित अलंकार-योजना, 2. उत्कृष्ट भाषा, 3. गरिमामय रचना-विधान।

समुचित अलंकार योजना

अलंकारों का प्रयोग तो लोंज़ाइनस के युग में निर्बाध होता था, पर उसका मनोवैज्ञानिक आधार न था। लोंजाइनस ने उनका सम्बन्ध मनोविज्ञान से जोड़ा और मनोवैज्ञानिक प्रभावों को व्यक्त करने के निमित्त ही अलंकारों को उपयोगी ठहराया। वह अलंकार को तभी उपयोगी मानते है जब वह जहाँ प्रयुक्त हुआ है, वहाँ अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करे, पाठक को आनन्द प्रदान करें केवल चमत्कृत न कर, वह अलंकारों को भी एक प्रकार से काव्य की आत्मा के रूप में ग्रहण करते हैं।

वह औचित्य को यहाँ भी प्रधानता देते हैं "इस बात पर किसी का ध्यान न जाए कि वह अलंकार है।" इस बात से स्पष्ट है कि वह अलंकार को निश्चय ही साध्य नहीं मानते थे और यह उस युग के लिए, जिसमें लोंजाइनस पैदा हुए, निश्चय की क्रांतिकारी विचार था।

जहाँ तक उदात्त के पोषक अलंकारों के निर्देश का प्रश्न है, उन्होंने विस्तारण शपथोक्ति, प्रश्नालंकार, विपर्यय, व्यतिक्रम, पुनरावृत्ति, छिन्न वाक्य, प्रत्यक्षीकरण, संचयन सार, रूप-परिवर्तन, आदि का विवेचन किया है।

उत्कृट भाषा– उत्कृष्ट भाषा के अतर्गत लोंजाइनस ने शब्द चयन रूपकादि का प्रयोग और भाषा की सज्जा को लिया है। उन्होंने विचार और पद-विन्यास को एक-दूसरे के आश्रित माना है, अत: सहज यह निष्कर्ष निकल आया है कि उदात्त विचार क्षुद्र या साधारण शब्दावली द्वारा अभिव्यक्त न होकर गरिमामयी भाषा में ही अभिव्यक्त हो सकते है। भाषा की गरिमा का मूल आधार है शब्द-सौंदर्य अर्थात् उपयुक्त और प्रभावशाली शब्दों का प्रयोग। "सुन्दर शब्द ही वास्तव में विचार को विशेष प्रकार का आलोक प्रदान करते हैं।" शब्द-विन्यास के दो पक्ष होते हैं ध्वनि-पक्ष और अर्थ-पक्ष। लोंजाइनस ने दोनों पक्षों पर समुचित ध्यान दिया है।

जिस प्रकार भारतीय रीति-सम्प्रदाय में भाषा में ओज, माधुर्य, प्रसाद आदि गुण माने गये हैं, उसी प्रकार लोंजाइनस भी मानते है साथ ही जिस प्रकार काव्य-दोषों का विरेचन करते हुए भारतीय आचार्यों ने भाषा सम्बन्धी दोषों का उल्लेख किया है, उसी प्रकार लोंजाइनस ने भी किया है।

"छोटी-मोटी बातों को बड़ी-बड़ी और भारी भरकम संज्ञा देना किसी छोटे से बालक के मुंह पर पूरे आकार वाला त्रासद अभिनसस को मुखौटा लगा देने के समान है।"

भाषा के औदात्य और अलंकार-प्रयोग के सम्बन्ध को व्यक्त करने में लोंजाइनस के विचार भारतीय आचार्यों से पूर्ववत: मिलते-जुलते पूर्णत: प्रतीत होते हैं।

4.6 काव्य में उदात्त का महत्त्व

लोंजाइनस के उदात्त तत्त्व की व्याख्या का महत्त्व तब और भी अधिक बढ़ जाता है जब हम आधुनिक आलोचकों ब्रैडले, काण्ट आदि की विचारधारा तथा लोंजाइनस की धारणाओं में समानता पाते हैं। वेग,

अलौकिक ऐश्वर्य और उत्कट प्रभाव-क्षमता आदि जिन गुणों का उल्लेख लोंजाइनस ने किया है ब्रैडले ने भी 'असीम शक्ति' के अन्तर्गत उन्हें स्वीकार किया है। पश्चिम के रीतिकारों ने काव्यगत 'भाव' के जिन चार भेदों– उदात्त, सुन्दर, करुण और हास्य का उल्लेख किया है, पर उनका लोंजाइनस ने पृथक्-पृथक् रूप में कथन तो नहीं किया है पर उनका संकेत अवश्य मिलता है। उदात्त भावना और उदात्त विषय के लिए उदात्त शैली की परिकल्पना और विवेचन भी आजकल के आलोचकों ने लोंजाइनस की तरह ही किया है। प्रकृति के सम्बन्ध में भी कॉलरिज तथा लोंजाइनस के विचार समान हैं।

भारतीय काव्य-शास्त्र में उदात्त की परिकल्पना का अभाव तो नहीं है पर उसका विवेचन समग्र रूप में एक स्थान पर नहीं किया गया है। अत: यह मानना पड़ेगा कि उदात्त का विश्लेषण और समग्र विवेचन भारतीय काव्य-शास्त्र में उतना नहीं जितना लोंजाइनस के 'पेरि इप्सुस' में पाया जाता है।

बोध प्रश्न

1. पेरिइप्सुस का प्रकाशन किस सन् में हुआ।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

2. लोजाइनस प्रतिभा को क्या मानते हैं।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

सारांश

जिस प्रकार कुन्तक की रचना 'वक्रोक्ति जीवतिम्, वर्षों तक अपरिचित अज्ञात रहा उसी प्रकार लोंजाइनस की रचना पेटिइप्सुस भी अज्ञात रहा। इसका प्रकाशन 1554 ई० में हुआ था। लोंजाइनस का मनना है कि उदात्त विचार या विषय की गरिमा से ही साहित्यकार की रचना उत्कृष्ट बनती है। महान् धारणाओं के अभाव में काव्य को प्रतिष्ठित रचनाओं में नहीं रखा जा सकता। विषय वस्तु का विस्तार अनन्त वाला होना चाहिए। उसमें असाधारण शक्ति होनी चाहिए। लोंजाइनस प्रतिभा को प्राकृतिक मानते हैं। परन्तु उसके नियम सदैव नहीं बनाये जा सकते। कलागत उदात्त के तीन तत्त्व हैं– समुचित अलंकार, उत्कृट भाषा, गरिमा रचना – विधान।

आधुनिक आलोचक ब्रैडले ने लोंजाइनस के गुणों को असीम शक्ति के रूप में स्वीकार किया है। प्रकृति के विचार में कालरित तथा लोंजाइनस के विचार समान हैं।

खंड

5

आई. ए. रिचर्डस् का मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद और संप्रेषण सिद्धान्त

पाठ का प्रारूप

5.1 उद्देश्य
5.2 भूमिका
5.3 परिचय
5.4 काव्य का प्रभाव और प्रयोजन
5.5 मूल्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन
5.6 मूल्य का सिद्धान्त और साहित्य
5.7 प्रेषणीयता का सिद्धान्त
5.8 काव्य की भाषा व स्वरूप
5.9 रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का महत्त्व
5.10 अर्थों का वर्गीकरण
☐ बोध प्रश्न
☐ सारांश

5.1 उद्देश्य

इस खंड के अधयान के पश्चात्-विद्यार्थी योग्य होगें-

- काव्य का प्रभाव और प्रयोजन को समझने में।
- मूल्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन और मूल्य का सिद्धान्त और साहित्य को समझने में।
- प्रेषणीयता का सिद्धान्त और काव्य की भाषा व स्वरूप को समझने में।
- रिचर्ड्स के सिद्धान्तों का महत्त्व; अर्थों का वर्गीकरण और स्वरूप को समझने में।

5.2 भूमिका

डॉ॰ आई॰ ए॰ रिचर्ड्स का मनोवैज्ञानिक मूल्यवाद आज महत्त्वंपूर्ण सिद्धान्त माना जाता है। हम जब किसी भी वस्तु का मूल्यांकन करते हैं तो देखते हैं कि अच्छा क्या है। बुरा क्या है? इस पर रिचर्ड्स ने अपने विचार व्यक्त नहीं किये हैं।

5.3 परिचय

आधुनिक युगीन पाश्चात्य समीक्षकों में डॉ. आई.ए. रिचर्ड्स का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में नूतन दृष्टिकोण का परिचय देते हुए अनेक नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की है।

5.4 काव्य का प्रभाव और प्रयोजन

आधुनिक युग के मौलिक विचारकों में आई. ए. रिचर्ड्स का महत्वपूर्ण स्थान है। वह मनोविज्ञान के क्षेत्र से साहित्य में आए हैं। अत: उन्होंने मनोविज्ञान और बौद्धिकता की सहायता से कविता की सार्थकता तथा महत्व के संबंध में नवीन तर्क प्रस्तुत किए हैं।

काव्य का प्रभाव और प्रयोजन– रिचर्ड्स के अनुसार, कविता का मूल्य उसकी मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर है। जो कविता पाठक या श्रोता के मन को अधिक जितना अधिक प्रभावित कर पाएगी, जिसमें संप्रेषणीयता (communicability) जितनी अधिक होगी, वह उतनी ही उत्कृष्ट कहलाएगी। काव्य और कला का प्रयोजन ही यह है कि वह आवेगों में संतुलन स्थापित करे, आवेगों को ऐसा व्यवस्थिति कर दे कि भावुक को विश्रांति की अनुभूति हो।

रिचर्ड्स मानते हैं सौन्दर्य एक विशिष्ट प्रकार का मूल्य है, निरपेक्ष मूल्य (Absolute) है। मानव मन में निरन्तर आवेग उत्पन्न होते रहते हैं। उनमें से कुछ परस्पर सम्बद्ध और अनुकूल होते हैं जैसे हर्ष और गर्व किन्तु अन्य विरोधी और प्रतिकूल होते हैं जैसे भय और हर्ष। सौन्दर्य के प्रभाव ने इन सभी प्रकार के मनोवेगों में पारस्परिक सामंजस्य संभव होता है।

सौन्दर्य से उत्पन्न यह आनन्दप्रद मनोदशा न तो यह निष्क्रिय अवस्था है, जिसमें समान विरोधी प्रभावों की खींचतान के कारण हम स्तब्ध और किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं और न वह उत्तेजनापूर्ण दृढ़ता, एकरूपता, जो क्रोध आदि के प्रबल आवेग के कारण आ जाती है।

रिचर्ड्स के अनुसार, मनोवेगों की दो कोटियाँ हैं, इच्छा तथा द्वेष या विमुखता (Aversion) प्रथम में हम कुछ पाने के लिए उद्यत होते हैं, तो दूसरे में कुछ वस्तुओं के प्रति हमारे मन में विमुखता पैदा हो जाती है। प्रथम प्रकार के आवेग प्रवृत्तिमूलक होते है, तो दूसरे निवृत्तिमूलक कुछ इच्छाएँ अधिक महत्वपूर्ण होती है और कुछ कम।

कला का मूल्य भी इसी बात में है कि वह हमारे आवेगों में संगति और संतुलन स्थापित करे, हमारी अनुभूतियों के क्षेत्र को व्यापक बनाए। रिचर्ड्स की दृष्टि में साहित्य का प्रयोजन एक ऐसी मन:स्थिति उत्पन्न कर देना है जिससे आवेगों का सतुलंन होने के साथ-साथ बाह्य क्रिया के लिए तत्परता उत्पन्न हो जाए।

काव्य के प्रभाव और प्रयोजन के सम्बन्ध में रिचर्ड्स द्वारा प्रतिपादित मूल्य सिद्धांत इस प्रकार हैं।

1. कला अन्य मानव व्यापारों उससे पृथक् नहीं है।
2. मानव क्रियाओं में कला सर्वाधिक मूल्यवान है।
3. किसी भी मानव-क्रिया का मूल्य इस बात का निर्धारित होता है वह कहाँ तक मनोवगों में सतुंलन और सुव्यवस्था उत्पन्न करने में सक्षम है। कला से प्राप्त मुक्त अनुक्रियाओं का परिणाम आगे भी बना रहता है।

रिचर्ड्स के काव्य सिद्धांतों की एक आधारभूत मान्यता है सौन्दर्य की विषयनिष्ठता (Subjectivity) उनका कथन है कि जब हम कहते हैं कि अमुक वस्तु सुन्दर है तो हम अपनी मन: स्थिति पर उस वस्तु पर प्रेक्षपण करते हैं। इसलिए उन्होंने सौन्दर्य शब्द के स्थान पर, अनुभूति का मूल्य' शब्द प्रयुक्त किया है और इस मूल्य की सत्ता उद्दीपन में न मान कर अनुक्रियाओं का मूल्य शब्द प्रयुक्त किया है और इस मूल्य की सत्ता उद्दीपन (Stimulus) में न मान कर अनुक्रियाओं (responses) में मानी है।

जॉन को रैन्सम तथा थियोडोर मेंयर ग्रीक ने की है, उनके अनुसार रिचर्ड्स के मत को स्वीकार करने पर तो काव्यवस्तु का वयन निरर्थक होगा। रिचर्ड्स भी एकाध पर उद्दीपन की वस्तु में संतुलित विराम का गुण मानते हैं। त्रासदी की प्रशंसा इसी बात की द्योतक है कि वस्तुगत विशेषता को भी वह महत्व देते हैं। सौन्दर्य की विषयगता इससे भी प्रमाणित होता है कि सुन्दर वस्तु सौन्दर्यभोगी पर अबाध शक्ति से प्रभाव डालती है। अंजता के भित्ति चित्र गांव के घरों की दीवारों पर अंकित रंगीन चित्रों से निश्चय ही अधिक सुन्दर हैं। अत: सौन्दर्य को न तो पूर्णत: विषयगित और न पूर्णत: विषयगत माना जा सकता है। दोनों मतों में आंशिक सत्य है।

साहित्य और विज्ञान का भेद– रिचर्ड्स ने अपनी पुस्तकों Principles of literary critism (1924) तथा 'Science and poetry' (1926) में इस प्रश्न पर विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि प्रत्येक काव्य में वस्तुओं की ओर निर्देश किया जाता है।

इसके विपरीत यदि किसी कथन में निर्दिष्ट वस्तुओं का सच्चा और झूठा होना महत्वपूर्ण न हो और न उन निर्दिष्ट वस्तुओं के बीच निर्दिष्ट सम्बन्ध ही महत्वपूर्ण हो, अपितु वह कथन हमारे भावों (feelings) और अन्तवेर्गों (emotions) को जागृत करें, तो ऐसे कथन (pseudo statement) को हम साहित्यिक कहेंगे।

कविता का सम्बन्ध बौद्धिक सत्य से नहीं वरन् रागात्मक प्रतिक्रियाओं से है। हमारी भावनाओं को जो बात जँचती है, जो बात विरोधी प्रतीत नहीं होती, वही काव्य में सत्य है।

काव्य का पाठक उन सब बातों को स्वीकार करता है जो हमारी रागात्मक वृत्तियों के स्तर पर सही है, भले ही वह तथ्य निरूपण की दृष्टि से गलत है।

रिचर्ड्स के अनुसार, मनुष्य के अनुभवों के दो स्रोत हैं– बाह्य जगत और मानसिक जगत। विज्ञान में सम्बन्ध बाह्य जगत से होता है। साहित्य का मानसिक अवस्थाओं से विज्ञान में निर्देशों का वास्ताविक आधार होता है साहित्यिक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उनके निर्देशों का आधार वास्ताविक हो। यदि उसके निर्देशों का आधार वास्ताविक भी हो तो उनका मूल्य उनकी वास्तविकता से ही, उनकी भावों और अन्तगर्वेगों को जागृत करने की क्षमता से आंका जाएगा।

साहित्यिक रचना में भावात्मक भाषा (emotive language) का तथा विज्ञान में निर्देशात्मक भाषा (referential language) का प्रयोग होता है साहित्य का सत्य भावात्मक होता है, तो विज्ञान का बौद्धिक और तथ्यपरक। जर्मन विद्वान और दर्शनिक काण्ट ने सत्य का सम्बन्ध औपत्तिक बुद्धि (thought) से सुन्दर रिचर्ड्स मनोवृत्ति से और शिवं का सम्बन्ध इच्छा (will) से है, पर उन्हें यह मान्य न हुआ कि सुन्दर और भाव में भी कोई सम्बन्ध है उनके अनुसार सुन्दर को भाव से सम्बन्धित करने के कारण ही सारे विषय में गड़बड़ पैदा हो गई है।

उनके अनुसार, सत्यं ज्ञानात्मक मनोवृत्ति के क्षेत्र में आता है शिवं क्रियात्मक मनोवृत्ति के क्षेत्र में पड़ता है और सुन्दर सौन्दर्य मनोवृतियों के क्षेत्र में। यह विशिष्ट स्वभाव दो तरीकों से स्थिर किया जाता है, एक के अनुसार एक विचित्र प्रकार का मानसिक तत्व अर्थात् सौन्दर्यगत भाव (asethetic emotion) हमारे सौन्दर्यानुभव का विशेष लक्षण आत्मप्रेषण (एम्प्रैथी) है। पर मनोवैज्ञानिक न तो (aesthetic expeience) जैसे मानसिक तत्व को मानता है और न आत्म-प्रेषण को ही aesthetic expecience की विशेषता मानता है। आई. ए. रिचर्ड्स ने कहा कि ऐस्थैटिक अनुभव साधारण ऐन्द्रिय अनुभव जैसा ही है बस उसका रूप एक विशेष प्रकार का होता है।

रिचर्ड्स का मत है कि ये ऐस्थैटिक अनुभव के गुण न होकर निवेदन की दशा या उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रेरणाएं हैं। सौन्दर्यभूति में मूल्य (values) सीधे जीवन से आता है उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रेरणाएं समतोलन (balance) पर जाती हैं। सौन्दर्य के अनुभव साधारण अनुभव से बढ़े-चढ़े होते हैं। साधारण अनुभवों की आपेक्ष एस्थैटिक अनुभवों में जटिलता अधिक होती है।

रिचर्ड्स प्रेषण को कला ने बाह्य न मान कर उसे कला का तात्विक धर्म मानता है। उसका तर्क है कि मनुष्य

सामाजिक प्राणी है, उसने सामाजिक मन का विकास किया है, जो कुछ वह करता है (चेतन रूप से या अचेतन रूप से) सब दूसरों से निवेदित करता है। जो कुछ वह करता है (चेतन रूप से या अचेतन रूप से) सब दूसरों से निवेदित करता है। एस्थैटिक क्रिया भी दूसरों के प्रति निवेदित होती है। इसमें एस्थैटिक अनुभव भी संप्रेषित होना चाहिए।

यद्यपित संप्रेषण के लिए कलाकार सतर्क होकर अलग से कोई चेष्टा नहीं करता कला को सही रूप देने की प्रक्रिया में संप्रेषण का गुण आप-से आप आ जाती है।

हमारे विचारों और भावनाओं का स्वरूप बहुत कुछ प्रेषण के प्रयोग से निर्धारित होता है, यह चाहे अप्रत्यक्ष हो अथवा स्वरूप। हमारे मन में यह भावना निहित रहती है कि हमारी मानसिक क्रियाओं से दूसरों का भी सरोकर है। प्रेषण द्वारा कवि और पाठक के मन में समान मानसिक क्रियाओं से दूसरों का भी सरोकर है। प्रेषण द्वारा कवि और पाठक के मन में समान मानसिक अवस्थान उत्पन्न होती है यही करना कला का उद्देश्य है, जो प्रेषणीयता के बना सम्भव नहीं। रिचर्ड्स संप्रेषण तक घटितर कहता है– व एक मन से अपने परिवेश के प्रति इस पकार से प्रतिक्रिया व्यक्त करता है कि दूसरा मन उससे प्रभावित हो जाता है उस दूसरे मन में ऐसी अनुभूति उत्पन्न होती है जो प्रथम मन की अनुभूति के समान और अंशत उसके कारण उत्पन्न होती है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि वक्ता के पास विशिष्ट ग्राहिका शक्ति हो। संप्रेषण वहां कठिन होता है जहां वक्ता को ही श्रोता के अनुभव के लिए आवश्यक उपादान जुटाने पड़ते है श्रोता के पास अपनी ओर से से उपादान नहीं रहते तथा श्रोता के कुछ ऐसे विगत अनुभव उसकी वर्तमान अनुभूति को बाधित करते रहते हैं जो वर्तमान अनुभूति के लिए नितान्त अनक्षेपित होते हैं। संप्रेषण की विफलता का अर्थ है संप्रेषित होने वाली अनुभूतियों का भाव की अनुभूतियों से मेल न खाना। वे कौन से गुण हैं जो कलाकार को सफल निवेदन में सहायता देते हैं? रिचर्ड्स प्रथम तो कलाकार की अनुभूति अधिक विस्तृत और मूल्यावान होनी चाहिए। साथ ही वह उस अनुभूति के विभिन्न तत्वों में सम्बन्ध स्थापित करने में अधिक स्वतन्त्र हो। उसके लिए आवश्यक है कि वह अतीत को अपने मानस में स्वतन्त्र रूप से पुनःप्रस्तुत कर सके और उसके लिए उसे अपनी पूर्वकालीन मनोदशा की उपलब्धि करनी होगी। अनुभूति के क्षण में उसके आवेग (impulses) अधिक क्रियाशील होंगे, कलाकार को अपने इन विभिन्न आवेगों की व्यस्था संघटना करनी होगी। वस्तु या स्थिति के पूर्ण बोध के लिए कलाकार में जागरूक निरीक्षक शक्ति होनी चाहिए। प्रेषणीयता के लिए कलाकर के अनुभवों को अन्य व्यक्तियों के अनुभवों के मेल में ही रहना होगा। सफल सम्प्रेषण के लिए आवश्यक है कि कलाकार और पाठक के आवेग और विभाव (stimuli) समान हों।

"What communication requires is responses which are uniform sufficiently varied and capable of beings set off by stimuli which are physically manageable."

रिचर्ड्स के अनुसार, कलाकार संप्रेषण के प्रति सचेत सजग नहीं रहता। काव्य -रचना में विषयवस्तु के चयन से लेकर उसकी परिसमाप्ति तक कवि-चेतना सक्रिय रहती है।

कल्पना– रिचर्ड्स के अनुसार, कल्पना मन की कोई रहस्यपूर्ण क्रिया नहीं है। वह मन की अन्य क्रियाओं के समान ही है। कुछ आवेगों के सक्रिय हो जाने पर अन्य आवेग भी जाग्रत हो जाते हैं भले ही बाह्य उत्तेजक कारण न हों। ऐसे आवेगों को वह आवृत्यात्यक (Repetivitive) कहते हैं जो आवेग वर्तमान परिस्थितियों के कारण, उत्पन्न होते हैं, उन्हें वह रूपात्मक (formative) कल्पना कहते हैं।

रिचर्ड्स ने कल्पना के प्रचलित छः अर्थ दिये गये हैं– प्रथम अर्थ में, कल्पना सुस्पाष्ट चाक्षुष बिम्बों की उत्पादक मानील जाती है दूसरे अर्थ में, कल्पना का सम्बन्ध भाषा के प्रयोग से है। तीसरे अर्थ में, वह लेखक अथवा पाठक कल्पनाशील कहलाता है जो दूसरे मनुष्यों की मनःस्थिति और उनके आवेगों को सहानुभूति पूर्वक पुनः प्रस्तुत कर सकता है। चौथे अर्थ में कल्पना युक्तिकौशल की द्योतक है। कल्पना का पाँचवां वर्ग वैज्ञानिक कल्पना है। यह वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा वैज्ञानिक सामान्यतः असदृश वस्तुओं में संगत सम्बन्ध

दिखाता है। कल्पना वह संयोगिक शक्ति है जो विपरीत और विस्वर गुणों को संतुलित कर देती है। कॉरिज के अनुसार, कल्पना यही करती है। रिचर्ड्स भी कल्पना का सर्वश्रेष्ठ गुण और कार्य यही मानते है कि वह विभिन्न और विपरीत मनोवगों तथा अनुभवों में व्यवस्था तथा संतुलन उत्पन्न करती है जिससे कॉलरिज के शब्दों में संगीतिक आनन्द की उपलब्धि होती है।

नानाविधि अनुभव के एकत्व का आधार कवि है और यह कार्य वह कल्पना के द्वारा करता है वह करुण नाटक का दृष्टांत देता है और कहता है कि करुण नाटक में हमारी करुणा और भय की प्रवृत्तियाँ जाग्रत होती है।

करुणा और भय विपरीत प्रवृत्तियाँ हैं– प्रथम में हम समीप आते हैं, दूसरी में हम भागते हैं। करुण नाटक इसीलिए सर्वोत्कृष्ट काव्य है क्योंकि उनमें इन दोनों प्रवृत्तियों के साथ एक उपस्थित किया जाता है।

व्याख्यात्मक समीक्षा– व्याख्याता का कार्य है कि काव्य का बोध परिशसन (appreciation) तथा मूल्यांकन करना है। कृति को अच्छी तरह समझने के लिए व्याख्याता को चाहिए कि कृति को उसके वास्ताविक रूप में देखें (he should know how to raad poetry) और ऐसी मानसिक दशा उत्पन्न करे जो कृति के अनुकूल हो। उसका कथन है कि किसी रचना के अर्थ में होती तो कई धाराएँ हैं, पर उनमें चार महत्वपूर्ण होती हैं– मुख्यार्थ (sense) भावना (feelings) वचन भंगी (tone) और उद्देश्य (motive)। मुख्यार्थ वह जो कृति अथवा वक्तत्य में शब्दों द्वारा किया जाता है। हम उसे अभिधेयार्थ कह सकते हैं कि हम शब्दों के द्वारा पाठक का ध्यान किसी वस्तुनिष्ट की ओर आकृष्ट करते हैं, कुछ बातें इसलिए कहते हैं कि वह उन पर मनन करे और उनके सम्बन्ध में उसके विचार उत्तेजित हों। यही आशय कहलाता है। बच्चों को सुलाने के लिए जो लोरियाँ रची जाती हैं या जिन्हें नर्सरी-गीत (rhymes) कहते हैं, इसी प्रकार की रचनाएँ है। इनमें आशय बहुत कम होता है। आशय के लिए शब्दावली का सावधान प्रयोग, तार्किक तीव्रता, वाक्य रचना पर पूर्ण अधिकार आदि सहायक होते हैं।

लेखक का पाठक के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण अभिवृत्ति (attitude) या रुख विद्रोहपूर्ण, तटस्थ या सहानुभूति रुख अर्थ के स्वरूप का निर्धारण करता है। जिस प्रकार के पाठक या श्रोता होते हैं, लेखक अनजाने या जानबूझकर उसी प्रकार की भाषा का प्रयोग करता है। "He chooses or arranges his words different as his audience varies." यही tone है। लैम्ब और स्टीवेन्सन के निबन्धों में तथा ग्रे और ड्रादडन की कविता में यह वचनभंगी पर्याप्त मिलती है।

एक अन्य बाधक चीज है निरोध (Inhibition) काव्यनुभूति के अभाव में हम बहुत से अनुभवों को ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं।

सिद्धान्तमूलक आसंजन (Doctrinal adhesions)— किसी विशेष धर्म, सम्प्रदाय या दर्शन में आस्था भी अर्धग्रहण में बाधक होती है। उदाहरण के लिए, हम कृष्णभक्त हैं, तो कृष्णकाव्य भले ही वह काव्य की दृष्टि से हीन हो हमें प्रिय लगेगा। और इस प्रकार हम उसका सही मूल्यांकन नहीं कर पाएंगे।

व्याख्या ग्रहणशील होती है, वह नवीन अनुभव को अस्वीकार करती है; आलोचना क्रियाशील होती है; वह मूल्यांकन करती है, मानदंड निर्धारित करती है इस पकार व्याख्या कृति को समझने में सहायक होती है, पर इसे बहुत दूर तक नहीं खींचना चाहिए, अन्यथा रसावादन में बाधा होगी। रिचर्ड्स ने आलोचना को कला न मानकर उसे शास्त्र प्रयोगात्मक विज्ञान (applied science) कहा जाता है और सम्प्रेषण का लेखा अर्थात् सम्प्रेषण कितना सफल और प्रभावशील है।

रिचर्ड्स एवं रस-सिद्धांत– रिचर्ड्स भी कविता की मूल्य उसकी रागात्मकता में मानते हैं। काव्यानुभूति का मूल्य पाठक के मन पर पड़े प्रभावों में मानते हैं। रस-सिद्धांत मे 'भाव' को प्रधानता प्राप्त है, वह काव्यानुभूति में संवेग, भावना और अभिवृत्ति (atitude) को प्रधानता दी है। रस-सिद्धांत में विभाव के अर्न्तगत उद्दीपन की चर्चा है, रिचर्डस ने भी उद्दीपन अनुक्रिया के रूप में स्थायी भाव विद्यमान रेहते हैं, मित्र-अमित्र रसों

की चर्चा है, उसी प्रकार रिचर्ड्स के विवेचन में विरोधी आवेगों की, दोनों अनेकता में एकता, अव्यवस्था में व्यवस्था में विरोधी में अविरोध की बात करते हैं। रस-सिद्धांत में चित्त की एकाग्रता, विश्रान्ति और निवैयाक्तिगता को रसात्मक आनन्द की विशेषताएं कहा गया है, रिचर्ड्स भी आवेगों के सन्तुलन से उत्पन्न अखण्ड मन:स्थिति की बात करते हैं। निर्वैयक्तिकता को भी उन्होंने स्वीकार किया है। रिचर्ड्स का सम्प्रेषण-प्रक्रिया को विवेचन हमारे यहाँ के साधानीकरण के समीप है।

इन समानाताओं के होते हुए भी दोनों में पर्याप्त भेद है रसवादी रसानुभूति को अलौगिक मानते है। जबकि रिचर्ड्स उसे अन्य सामान्य अनुभूतियों से मूलत: विलक्षण नहीं मानते। रस-सिद्धांत काव्यानुभूति को आनन्दमयी अनुभूति मानता है। रिचर्ड्स मनोवेगों के संघटन को साध्य मानते है। रसवादी उसे साधन मानते हुए आस्वादमूलक आनन्द को साध्य मानते हैं। रिचर्ड्स आनन्द का सर्वथा निषेध तो नहीं करते, पर उसे प्रक्रियाजात गौण वस्तु उपसृष्ट (by-product) मानते हैं, आवेगों से संतुलन के प्रधान रसवादी रसात्मक आनन्द की अनिर्वचनीय मानते हैं, रिचर्ड्स उसके मूल्य का विश्लेषण और व्याख्या संभव मानते हैं। रस-सिद्धांत एकात्मवाद को आधार बनाकर चला है, रिचर्ड्स उसे बिल्कुल नहीं मानते। रिचर्ड्स मूल-सिद्धांत पर यह आक्षेप लगाया गया कि जो चित्र उन्होंने शिरावस्था या स्नायुमंडल और मस्तिष्क की क्रियाओं की खींचा है, वह अभी तक सर्वस्वीकृत नहीं हो पाया है। उनके मूल्य-सिद्धांत पर यह आक्षेप लगाया गया है कि उनके मूल्य-सिद्धांत से सम्बन्धित विचारों की अधिक व्याहारिक उपयोगिता भी नहीं है। मनोविज्ञान में कारण-कार्य की व्यक्ति सदा नहीं रहती, वह आनुभाविक (empirical science) है, उसकी मान्याताएं एकांगी और तत्कालिक हैं। उनसे परिष्ठित आलोचना के सिद्धांतों का निर्माण दुष्कर है। आवेगों को शांत करना ही कला का चरम लक्ष्य है, यह बात भी सही नहीं है। वह कहते हैं कि कविता आनन्द के लिए नहीं पढ़ी जाती। यह कथन भी सामान्य अनुभव को नकारता है। मनोवेगों को जो उल्लेख रिचर्ड्स ने किया है, उनकी परिगणना और उदाहरण भी स्पष्ट नहीं है। स्वयं रिचर्ड्स भी अपने सिद्धान्तों की सामयिकता (provisionality) की संभावना को स्वीकार करते हैं। उन्होंने समीक्षा को पूर्ण विज्ञान माना है, पर समीक्षा के सैद्धान्तिक पक्ष को विवेचन करने वाला सौन्दर्यशास्त्र प्राधनत: कला का दर्शन है। साहित्य के अध्यनन की वैज्ञानिक पद्धति को एक सीमा तक ही अपनाया जा सकता है। उनका यह सिद्धांत सामाजिक वास्ताविकताओं पर ध्यान न देकर केवल व्यक्तिवादी मनोविज्ञान की दृष्टि से मूल्यांकन के मानदण्ड स्थिर करता है, जो एकांगी दृष्टिकोण है, क्योंकि आर्थिक संघर्ष तथा अन्याय की स्थिति में आन्तरिक सामंजस्य और व्यवस्था की बात बेतुकी है। अनुक्रियाओं की सूक्ष्म व्यवस्था बाहरी न्यायपूर्ण व्यवस्था में ही सम्भव है।

रिचर्ड्स ने बाह्य यथार्थ को महत्व नहीं दिया जाता है, बाह्य यथार्थ का नितान्त तिरस्कार काव्य में न तो संभव है और न उचित। सौन्दर्य के सम्बन्ध में उनकी यह मान्यता यह विषयीगत है, विषयगत नहीं– एकांगी है।

इस सब के बावजूद आधुनिक पाश्चात्य मनीषियों में आई.ए. रिचर्ड्स का स्थान मूर्धन्य है उनका प्रभाव एक ओर अमेरिका में समुदाय के लेखकों पर स्पष्ट है, तो दूसरी ओर आचार्य शुक्ल ने भी चर्चा की है। समीक्षा शास्त्र को वैज्ञानिक बनाने में उनका योगदान अपूर्व है। संप्रेषण की प्रक्रिया का उनका वैज्ञानिक विवेचन अभूतपूर्व है।

5.5 मूल्य का मनोवैज्ञानिक विवेचन

किसी भी वस्तु का मूल्यांकन करते समय हमारे मन में पहले से ही मूल्य के सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा होती है, या यों कहिए कि हम किसी पूर्व निश्चित मानदंड के आधार पर ही वस्तु का मूल्य निर्धारित करते हैं। हम किसी वस्तु को अच्छी कह देते हैं और किसी को बुरी तरह। प्रश्न है कि इस 'अच्छे होने' या 'बुरे होने' का मूलाधार क्या है? रिचड्र्स ने इसी समस्या को उठाते हुए बताया है कि

प्राय: लोग नैतिक दृष्टि से ही अच्छे-बुरे का निर्णय कर डालते हैं, किन्तु स्वयं नैतिक दृष्टि का मूलाधार क्या है– इस पर किसी ने स्पष्ट रूप में विचार नहीं किया।

डॉ. रिचर्ड्स के विचार से हमारी मूल्यांकन सम्बन्धी धारणाओं का सम्बन्ध मानसिक उद्वेगों से है। जो वस्तु हमारे उद्वेगों को सन्तुष्ट करती है, उसी को सामान्यत: मूल्यवान कहा जाता है। ये उद्वेग (Impulses) भी दो प्रकार के होते हैं– 1. प्रवृत्ति मूलक और 2. निवृत्ति मूलक। इन उद्वेगों में परस्पर संघर्ष भी हो सकता है। सम्भव है कि किसी एक उद्वेग की तुष्टि से दूसरे उद्वेग को ठेस पहुँचे। ऐसी स्थिति में हमारा प्रयास यह होता है हम अपने उद्वेगों को इस प्रकार शान्त करें कि जिससे दूसरे उद्वेगों से विरोध न हो। इस लक्ष्य की पूर्ति तभी हो सकती है, जबकि हम प्रमुख उद्वेगों को अधिक महत्त्व देते हुए गौण उद्वेगों की उपेक्षा करें।

विरोध एवं संघर्ष से बचने के लिए समाज में ऐसे नीति-नियमों का विकास हुआ है जिनसे बिना विरोध के ही अधिक से अधिक व्यक्तियों की संतुष्टि हो सके या उनकी आवश्यकताएं पूरी हो सकें। अस्तु, वह नियम जो समाज के अधिकांश व्यक्तियों को बिना किसी पारस्परिक विरोध के उनकी प्रमुख प्रेरणाओं को तुष्ट करने का विधान करता है– वही सबसे अच्छा नियम है, उसी को हम नैतिक नियम कहते हैं। रिचर्ड्स के शब्दों में– कोई भी वस्तु जो किसी एक इच्छा को इस प्रकार शान्त करती है कि उससे उसके समान या अधिक महत्त्वपूर्ण इच्छा का अवरोध नहीं होता– मूल्यवान है। या दूसरे शब्दों में किसी इच्छा को यदि तुष्ट नहीं करने दिया जाता तो उसका केवल यही आधार हो सकता कि है वैसा करने से उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण इच्छाएँ कुण्ठित हो जाएंगी। इसी प्रकार व्यक्ति या जाति के द्वारा अनुमोदित (इच्छा-पूर्ति की) प्राथमिकता पर आधारित सामान्य योजना की ही अभिव्यक्ति नैतिकता या नियमों के रूप में होती है।

5.6 मूल्य का सिद्धान्त और साहित्य

मूल्य के उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का नैतिकता से क्या सम्बन्ध है– इसकी व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। इसी सिद्धान्त को डॉ. रिचर्ड्स साहित्य पर भी लागू करते हैं, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वे सीधे नैतिकता के आधार पर साहित्य का मूल्यांकन करते हैं। विचार से समाज और धर्म के सभी नैतिक नियमों, प्रथाओं अन्धविश्वासों आदि के पीछे मूलत: वही इच्छाओं की तृष्टि का लक्ष्य होता है। किन्तु फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हमें सभी नैतिक नियमों, प्रथाओं आदि को सदैव महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए। प्रारम्भ में इनका विकास समाज को किसी अवस्था एवं परिस्थिति की आवश्यकता के अनुसार होता है।

समाज को अव्यवस्था एवं असन्तोष की इस प्रचण्ड आग से बचाने के लिए परम्परागत आदर्शों एवं मान्यताओं में संशोधन एवं परिवर्तन की गहरी आवश्यकता का अनुभव होता है। कला और साहित्य के द्वारा ऐसे प्रभाव उत्पन्न किए जाते हैं जिससे कि हम अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर अग्रसर होते हैं।

5.7 प्रेषणीयता का सिद्धान्त

रिचर्ड्स का काव्य सम्बन्धी दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'प्रेषणीयता का सिद्धान्त' (a theory of communicaiton) है। जैसा कि स्वयं रिचर्ड्स ने बताया है, किसी भी काव्य की समीक्षा के लिए मूल्य के वैज्ञानिक आधार एवं प्रेषणीयता– दोनों को आधार बनाना चाहिए। 'प्रेषणीयता' शब्द का प्रचार समीक्षा के क्षेत्र में रिचर्ड्स से बहुत पूर्व हो चुका था। कुछ लोग ऐसा समझते थे कि प्रेषणीयता में कवि की

अनुभूति पाठक के हृदय में इस प्रकार संक्रमित की जाती है, जैसे कि एक सिक्का एक जेब से दूसरी जेब में चला जाता है। रिचड्र्स ने इन धारणाओं का-विरोध करते हुए स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया कि प्रेषणीयता कोई अदभुत या रहस्यमय व्यापार नहीं है, अपितु मन की एक सामान्य क्रिया मात्र है। उनके शब्दों में– प्रेषणीयता में जो कुछ होता है, वह यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों में विभिन्न मस्तिष्क प्राय: एक जैसी अनुभूति प्राप्त करते हैं। रिचड्र्स ने इन विभिन्न अनुभूतियों में आधार की ही एकता मानी है– उन अनुभूतियों का पारस्परिक ऐक्य उसने स्वीकार नहीं किया है।

रिचर्डस महोदय ने श्रेय मुख्यत: कवि की वर्णन-क्षमता एवं श्रोता या पाठक की ग्रहण-शक्ति को दिया है। किन्तु इन दोनों के अतिरिक्त और भी बहुत से कारण हैं। सामान्यत: (विषय का) दीर्घ एवं घनिष्ठ परिचय, व्यापक जानकारी, जीवन की परिस्थितियों एवं अनुभूतियों की समानता आदि के कारण भी प्रेषणीयता सम्भव है। कुछ विशिष्ट एवं जटिल विषयों में सफल प्रेषणीयता के लिए यह आवश्यक है कि सम्बन्धित व्यक्तियों के अतीत-कालीन संचित अनुभव या कहिए–संस्कार बहुत कुछ एक से हों। साथ ही किसी एक विषय की प्रेषणीयता पर इस बात का भी गहरा प्रभाव पड़ता है कि उसे कौन से दूसरे विषयों एवं तत्त्वों के साथ समन्वित करके प्रस्तुत किया गया है। रिचड्र्स के विचार से विचारात्मक एवं विश्लेषणात्मक निबन्धों में भावोद्दीप्ति का समन्वय नहीं होना चाहिए, अन्यथा वे अस्पष्ट हो जायेंगे। कला के लिए प्रेषणीयता अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु क्या इसके लिए कलाकार को विशेष प्रयत्न करना चाहिए? यदि कलाकार स्वयं अपनी कला को प्रेषणीय बनाने का प्रयत्न करने लगेगा तो इससे सम्भव है, जब कि कलाकार उसमें किसी प्रकार का बाह्य प्रयत्न न करे। अत: रिचड्र्स महोदय ने एक बार तो वह माना है कि कला में प्रेषणीयता आवश्यक है किन्तु कलाकार को इसके लिए विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिए। सही बात तो यह है कि यदि कलाकार, तल्लीनतापूर्वक कला की रचना करता है तो उसमें प्रेषणीयता स्वत: ही आ जायगी। प्रेषणीयता का सिद्धान्त कला के इस महत्त्व की ओर भी संकेत करता है कि उसमें मानव जाति के अतीतकालीन अनुभव संचित हैं ''हमारे अतीत-कालीन अनुभव के मूल्यांकन सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष हैं।'' अत: कलाओं का महत्व कभी न्यून नहीं हो सकता।

5.8 काव्य की भाषा व स्वरूप

काव्य में प्रेषणीयता का माध्यम मुख्यत: भाषा है, अत: रिचड्र्स महोदय ने इसका भी सुक्ष्म विवेचन किया है। भाषा का उपयोग मुख्यत: अर्थ को सूचित करने के लिए होता है। रिचड्र्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Practical Criticism", में अर्थ के चार भेद किए हैं– 1. वाच्यार्थ (Sense), 2. भाव (feeling), 3. वक्ता की वाणीगत चेष्टा (tone), और 4. अभिप्राय (Intention)।

भाषा से सामान्यत: उपर्युक्त चारों प्रकार के अर्थ ही सूचित होते हैं, किन्तु विषय एवं परिस्थिति भेद से इनका अनुपात बदलता रहता है। विज्ञान की पुस्तकों एवं चर्चा में यदि पहले रूप– वाच्यार्थ (Sense) का अधिक प्रयोग होता है तो काव्य में दूसरे रूप या भाव की अतिशयता होती है। फिर भी ये अर्थ परस्पर सर्वथा असम्बद्ध नहीं है– वे एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। काव्य में भाव (या भावार्थ) की इतनी अधिक महत्ता होती है वहाँ वाच्यार्थ या सूक्ष्म तथ्य गौण हो जाते हैं। वहाँ तथ्य साधन होते हैं साध्य नहीं, अत: जो लोग केवल तथ्यों अथवा विचारों के आधार पर ही कविता का मूल्यांकन करते हैं।

5.9 रिचड्र्स के सिद्धान्तों का महत्त्व

रिचड्र्स के सिद्धान्तों का संक्षेप में अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब हम उनकी अपने दृष्टिकोण से समीक्षा कर सकते हैं। सबसे पूर्व उनके मूल्य के मनोवैज्ञानिक आधार-सम्बन्धों को ही लीजिए। उन्होंने

किसी भी वस्तु या कार्य के मूल्य का आधार हमारी प्रमुख प्रेरणाओं, इच्छाओं या प्रवृत्तियों की तुष्टि को ही माना है। इस तुष्टि के लिए यह अपेक्षित है कि हमारी विभिन्न प्रवृत्तियों में परस्पर ऐसा समन्वय हो कि जिससे एक की तुष्टि से दूसरों का विरोध न हो। साहित्य का मूल्यांकन वे इसी आधार पर करते हैं। कहने के लिए इसे रिचर्ड्स की बहुत बड़ी देन माना जा सकता है, किन्तु इसमें शब्दावली की जितनी नवीनता है, उतनी विचारों की नवीनता नहीं है। इच्छाओं की पूर्ति ही सुख है, आनन्द है– यह तथ्य प्राचीन युग से ही हमें ज्ञात है, जिसे रिचर्ड्स ने नये शब्दों में प्रस्तुत किया है। किन्तु अपने इस सिद्धांत को काव्य पर लागू करते समय वे यह स्पष्ट नहीं कर पाये कि काव्य में 'प्रमुख प्रवृत्तियों की व्यवस्था' की पहचान क्या है। सामान्यत: किसी भी काव्य के अध्ययन से दो प्रकार के प्रभाव उत्पन्न होते हैं– एक जो उसे पढ़ने के साथ-साथ प्रसन्नतादायक प्रभाव दे, दूसरे, वे प्रभाव जो हमारे विचारों का परिष्कार करते हुए हमारे व्यक्तित्व के स्थायी अंग बन जाते हैं। रिचर्ड्स महोदय इनमें से प्रथम प्रभाव को गौण मानकर द्वितीय को ही प्रमुख मानते हैं। काव्य से प्राप्त होने वाले तात्कालिक आनन्द के स्थान पर दृष्टिकोण के स्थायी परिष्कार को महत्व प्रदान करने का प्रयास नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। प्रेषणीयता का सिद्धान्त कला के स्वतन्त्र महत्व की दृष्टि से प्रतिपादित है, किन्तु इसका वे मूल्य के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं कर सके। इन दोनों सिद्धान्तों में परस्पर ऐसी संगति नहीं बिठाई जा सकी जिससे कि यह कहा जा सके कि ये दोनों एक ही व्यक्ति या एक ही दृष्टिकोण की देन हैं। मूल्य के मनोविज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त में जहाँ वे काव्य के वस्तु पक्ष को अधिक महत्ता प्रदान करते हैं, वहाँ प्रेषणीयता में उसके शैली-पक्ष को प्रमुखता प्राप्त हो जाती है– अत: इन दोनों सिद्धान्तों में हमें सामंजस्य का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

5.10 अर्थों का वर्गीकरण

काव्य की भाषा को उन्होंने अर्थ की दृष्टि से चार भेदों– वाच्यार्थ, भाव, चेष्टा (लहजा) और अभिप्राय में बाँटा है, किन्तु यह विभाजन वैज्ञानिक एवं सुसंगत नहीं है। अर्थों के इस वर्गीकरण की अपेक्षा भारतीय आचार्यों का वर्गीकरण– अभिधा, लक्षणा, व्यंजना सम्बन्धी – अधिक वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत हैं। किन्तु रिचर्ड्स इस वर्गीकरण से परिचित न होने के कारण लाभ नहीं उठा सके। काव्यास्वादन की प्रक्रिया के विश्लेषण में भी डॉ. रिचर्ड्स को अधिक सफलता नहीं मिली। उनके द्वारा 6 अवस्थाओं का निरूपण अत्यधिक जटिल एवं दुर्बोध है। फिर भी इतना अवश्य है कि उनके इस निरूपण में तथ्यों की वास्तविकता मिलती है। पहले हम किसी रचना में शब्दों को पढ़ते हैं, उनका अर्थ ग्रहण करते हैं उस अर्थ से सम्बन्धित वस्तु की कल्पना उदित होती है, उस कल्पना से संचारीभाव की अनुभूति होती है और उन संचारी भावों से स्थायी भाव की पुष्टि या उद्दीप्ति होती है। काव्यास्वादन की प्रक्रिया रस-सिद्धांत की मान्यताओं से मिलती-जुलती है। किन्तु रस-सिद्धांत में भावों की उद्दीप्ति के द्वारा स्थायीभाव की अभिव्यक्ति के सिद्धांत को प्रमुखता दी गई है। इसके अतिरिक्त रिचर्ड्स की यह भी एक विचित्र कल्पना है कि काव्य से प्राप्त होने वाला तात्कालिक आनन्द सर्व थागौण है। यह मान्यता स्वयं उनके प्रेषणीयता के सिद्धान्त के ही विपरीत पड़ती है। जबकि रिचर्ड्स संचारी भाव और स्थायी भाव दोनों के लिए ही 'उद्दीप्ति' की ही बात कहते हैं। प्रेषणीयता का प्रमुख लक्षण प्राप्त होने वाला आनन्द ही है। इस लक्षण के बिना प्रेषणीयता का निर्णय करना कठिन है, किन्तु रिचर्ड्स इसी लक्षण की बिल्कुल उपेक्षा कर देते हैं।

योगदान : रिचर्ड्स के सिद्धान्त भाषा की दृष्टि से मौलिक, विचारों की दृष्टि से गम्भीर एवं क्षेत्र की दृष्टि से व्यापक होते हुए भी परस्पर सुसम्बद्ध एवं व्यवस्थित नहीं है। उनकी आधारभूत धारणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु उनकी व्याख्या करते-करते वे उनसे बहुत दूर निकल जाते हैं। फिर भी उन्होंने अपने युग के विद्वानों

एवं कलाकारों का ध्यान कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की ओर आकर्षित किया है तथा उनके दृष्टिकोण को पर्याप्त प्रभावित भी किया है। सम्भवत: वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने साहित्य का एक ऐसा मानदंड खोजने का प्रयास किया, जो भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान और नीति-शास्त्र के आधारभूत तत्त्वों से समन्वित हो। यह प्रयास यद्यपि पूर्णत: सफल नहीं हो सका, फिर भी इसका महत्त्व कम नहीं है। अत: निश्चित ही आधुनिक युग के साहित्य-चिन्तकों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है।

बोध प्रश्न

1. आई० ए० रिचर्ड्स ने उद्वेग के कौन से दो भेद बताएं हैं।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

सारांश

रिचर्ड्स का विचार है कि हमारे मूल्यांकन की धारणा को सन्तुष्टि दे उसी को सामान्यत: मूल्यवान कह दिया जाता है। उद्वेग के दो भेद है। प्रवृत्ति मूलक 2. निवृत्ति मूलक। किसी भी काव्य की समीक्षा के लिए मूल्य के वैज्ञानिक एवं प्रेषणीयता – दोनों को ध्यान में रखना चाहिए।

रिचर्ड्स के अनुसार– विचारणक एवं विश्लेषणात्मक निबन्धों में भावोद्दीप्ति का समनव्य नहीं रहना चाहिए। कलाकार पूरी तन्मयता के साथ काव्य रचना करता है तो इसमें अपने आप ही प्रेषनीयता निहित हो जाती हैं उन्होंने अर्थ के चार भेद किये है– 1. वाच्चार्थ, 2. भाव 3. वक्ता की वाणीगत चेष्टा 4. अभिप्राय।

खंड

6

इलियट का निर्वैयक्तिकता सिद्धान्त और वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता सिद्धान्त

पाठ का प्रारूप

6.1 उद्देश्य
6.2 भूमिका
6.3 टी.एस. इलियट का काव्य सिद्धान्त
6.4 वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता सिद्धान्त
6.5 योगदान
❑ बोध प्रश्न
❑ सारांश

6.1 उद्देश्य

इस खंड के अधययन के पश्चात्-विद्यार्थी योग्य होगें-

- टी.एस. इलियट के काव्य सिद्धान्त को समझने में।
- वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता सिद्धान्त को समझने में।
- योगदान को समझने में।

6.2 भूमिका

साहित्य और दर्शन के गहन अध्येता, कवि औरा सुप्रसिद्ध समीक्षक टी.एस. इलियट का जन्म 26 सितम्बर 1888 ई. में सेंट लुई, मिसौरी में हुआ। बीसवीं शताब्दी को सर्वाधिक प्रभावशाली समीक्षक माने जाते हैं। इन्होंने समीक्षा के क्षेत्र में एक अद्भुत क्रान्ति उपस्थित की है।

टी॰ एस इलियट का सिद्धान्त निवैयक्तिकता महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों में गिना जाता है। कवि वैज्ञानिक की तरह ही निवैयक्ति एवं वस्तुनिष्ठ होता है। उसका कार्य होता है आत्म निरपेक्ष। वह अनेकता को एकता में समन्वित करने के लिए परम्परा पर जोर देते हैं।

इलियट बीसवीं शताब्दी के सर्वाधिक प्रभावशाली समीक्षक माने जाते हैं। इन्होंने समीक्षा-क्षेत्र में एक अद्भुत क्रान्ति उपस्थित की है। इलियट के आदर्श आलोचक अरस्तू थे। उन पर रेमेडी गोर्मी, टी.यू. ह्यूल्मे, एजरा पाउन्ड और फ्रांसीसी प्रतीकवासियों का भी प्रभाव था। परम्परा सम्बन्धी विचार, मूर्ख अभिव्यक्ति सम्बन्धी धारणा,

वस्तुमूलक प्रतिरूपता (objective corelative) में यदि वह हूल्मे से प्रभावित हैं, तो बिम्बवादी आन्दोलन का नेतृव्य उनके तथा एजरा पाउण्ड के हाथों हुआ।

क्लासिकवाद– इलियट ने अपने को क्लासिकवादी कहा है, अत: यह जानना आवश्यक है कि क्लासिकवाद से उनका क्या तात्पर्य है? उनके अनुसार 'क्लासिक' का अर्थ है परिपक्वता या प्रौढ़ता (Maturity) और क्लासिक साहित्य की सृष्टि तभी हो सकती है, जब सभ्यता, भाषा और साहित्य प्रौढ़ हो और स्वयं कृतिकार का मस्तिष्क भी प्रौढ़ हो।

कवि को अतीत की पूरी जानकारी होनी चाहिए। शील की प्रौढ़ता से उनका अभिप्राय था आदर्श चरित्र का निर्माण। भाषा का पूर्ण प्रौढ़ता के लिए यह आवश्यक है कि पूर्व युग के महान् कवि तो हो चुके हों, किन्तु उनकी कृतियों में भाषा पराकाष्ठा तक विकसित न हुई हो।

इलियट के अनुसार अंग्रेजी में महान् कवि अनेक हो चुके हैं, किन्तु इलियट उन्हें क्लासिक नहीं मानता। महान् कवि केवल एक विधा (form) में पराकाष्ठा तक पहुंचकर सदा के लिए उसकी सम्भावना को समाप्त कर देता है, जबकि क्लासिक कवि एक विधा (form) को ही नहीं, अपने समय की भाषा को भी पराष्काष्ठा पर पहुंचाकर उसके विकास की सम्भावना को समाप्त कर देता है।

इलियट के अनुसार मस्तिष्क की प्रौढ़ता, शील-प्रौढ़ता, शैली की पूर्णता और विश्वजीनता (Universality) क्लासिक के अनिवार्य गुण है; उसके किसी भी प्रकार की संकीर्णता और सीमित धार्मिक चेतना अग्राह्य हैं। क्लासिक के सम्बन्ध में दिए गए इलियट के अधिकाशं मत हमें मान्य हैं। एक स्थान पर वह लिखते हैं, 'यदि क्लासिक वास्ताविक आदर्श है, तो उसे ईसाइ धर्म की उच्चाशयता (Catholicity) की अभिव्यक्ति करनी होगी। यदि यहाँ उनका Catholicity से अभिप्राय ईसाई-धर्म विषयक कैथोलिक मान्यता।से है तो उनका मत अग्राह्य होगा। परन्तु यदि उससे उनका अभिप्राय उच्चाशय, उदार आस्तिक धार्मिक दृष्टिकोण से है, जो चरित्र-औचित्य और आखिल मानवता के लिए कल्याणकारी है तो उसे स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

कहते हैं कि महान् क्लासिक कवि भाषा विकास की संभावनाओं को निश्शेष कर देता है, उसके बाद उसके विकास की सम्भावना ही नहीं रहती। भाषा तो प्रकृति से विकासशील होती है, उसके विकास की पराकाष्ठा का अर्थ होगा उसकी गतिहीनता। इलियट की क्लासिक कवि के सम्बन्ध में यह शर्त कि उसकी भाषा प्रौढ़ हो उस अर्थ में स्वीकार्य नहीं हो सकती जिस अर्थ में उन्होंने उस मत के अनुसार तो क्लासिक कृति की तब तक रचना नहीं हो सकेगी जब तक कोई भाषा मृत हो जाए।

परम्परा का सिद्धांत– 19वीं शताब्दी तथा बींसवी शताब्दी के आरम्भ में स्वच्छन्वाद का बोलबाला रहा। भावनात्मक (Sentimental) आत्मभिव्यंजना के प्रबल आग्रह के फलस्वरूप उसका रूप अस्वस्थ्य होने लगा था। इलियट ने स्वच्छदतावाद के इस दीर्घकालीन आधिपत्य और अस्वस्थ्य रूप को अस्वीकार किया तथा क्लासिक मत का प्रतिपादन किया। कला को कलाकार का आत्मप्रकाशन मानने वाले सभी सिद्धांतों की आलोचना की। उन्होंने प्रभाववाद को भी अस्वीकार किया। वैयक्तिकता (Individualism) की बढ़ती हुई भावनाओं की व्यवस्था स्थापित करने के लिए, अनेकता का एकता में बाँधने के लिए उन्होंने परम्परा का सिद्धांत सामने रखा। उन्होंने कहा कि परम्परा का काव्य रचना में प्रमुख स्थान है और कवि की प्रतिभा केवल माध्यम रूप में परम्परा को काव्य में प्रतिफलित होने में सहायता प्रदान करती है। ऐतिहासिक बोध का अर्थ केवल अतीत को देखना नहीं है, उसे उसके वर्तमान रूप में भी देखना है।

अपनी पुस्तक 'After Strange Gods' में उन्होंने लिखा है, 'परम्परा से मेरा तात्पर्य उन सभी स्वाभाविक कार्यों, रीति-रिवाजों से है, जो एक स्थान में रहने वाले, एक समुदाय के व्यक्तियों के रक्त-सम्बन्ध को

व्यक्त करते हैं।' कि परम्परा का सम्बन्ध संस्कृति से है, और वह अपनी प्रगति में जातीय जीवन कला, दर्शन और साहित्य के उत्कृष्ट अंशों को सन्निविष्ट करती जाती है, अर्थात् उसकी अविछिन्न धारा प्रवाहित होती रहती है।

यदि परम्परा को भुलाकार कवि अपनी ही संवेदनाओं में उलझ जाता है, अपने दु:ख-दर्द की कथा ही लिखता है, वर्तमान की ही बात करता है, तो वह अपने उद्देश्य से भटक जाता है कि उसे क्या करना चाहिए। (2) उसे यह भी पता चल जाता है कि स्वयं उसकी कृति का मूल्य क्या है।

इलियट परम्परा को रूढ़ि पालन के रूप में स्वीकार नहीं करते; अतीत के प्रति विद्रोह भी उसमें सम्भव है। कवि का कर्त्तव्य है कि वह उसके प्रभाव को आत्मसोत करे, आवश्यकता पड़ने पर उसे परिवर्तित और परिवर्धित करता चले। अतीत के वर्तमान में देखना कवि की मौलिकता है, अत: इलियट की परम्परा न तो रूढ़ि पालक है और न मौलिकता का विरोधी।

6.3 टी.एस. इलियट का काव्य सिद्धान्त

कला की निर्वैयक्तिकता (Impersonal theory of poetry) – एजरा पाउण्ड, जिसके विचारों से इलियट प्रभावित हुए थे, मानता था कि वैज्ञानिक के समान ही निर्वैयक्तिक (Impersonal) और वस्तुनिष्ठ होता है। इलियट् परम्परा को आवश्यक मानते थे, जो वैयक्तिकता का विरोधी है। वह साहित्य के जीवन्त विकास के लिए परम्परा का योग स्वीकार करते थे।

उन्होंने कवि को काव्य की स्वतन्त्र अवधारणा के लिए माध्यम स्वीकार किया। 'कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता है, वरन् उससे पलायन कला है। कलाकार की प्रगति भावों की अभिव्यक्ति कला नहीं है वरन् उससे पलायन कला है। कलाकार की प्रगति निरन्तर आत्म-त्याग, व्यक्तित्व का निरन्तर बहिष्कार है।' कवि कविता लिखता नहीं, कविता स्वयं कवि के माध्यम से कागज पर शब्द विधान के रूप में उतर आती है, जब तक कविता पूरी नहीं हो जाती, तब तक कवि को यह भान नहीं होता कि क्या होने जा रहा है। पर क्या कला की निर्वैयक्तिकता सम्बन्धी उनके ये आरम्भिक विचार अन्त तक बने रहे। यीट्स के काव्य के सम्बन्ध में जो विचार उन्होंने प्रकट किए हैं उनसे लगता है कि बाद में चलकर इलियट के विचार या तो बदल गए या जैसा कि स्वयं उन्होंने कहा, मैं उस समय अपनी बात ठीक से व्यक्त न कर सकता था।' बाद में निर्वैयक्तिवाकता के सम्बन्ध में उन्होंने निम्न वक्तव्य दिया जो उनकी बात को समझने में अधिक सहायता देता है।

'कविता के तीन स्वर' नामक अपने भाषण में इलियट ने काव्य के तीन स्वर माने हैं– प्रथम स्वर वह है जिसमें कवि अन्य किसी से नहीं, वरन् स्वयं से बात करता है; द्वितीय स्वर वह है जिसमें वह अन्य (श्रोताओं) से बात करता है; और तृतीय स्वर में कवि स्वयं वक्ता ने होकर पात्रों के माध्यम से बोलता है। प्रथम प्रकार के स्वर में कवि का लक्ष्य स्वरों तक अपने भाव पहुंचना नहीं होता। कविता के विषय में इलियट ने कहा था कि कविता स्वंय अवतरित हो जाती है, लिखी नहीं जाती। ऐसी दशा में कवि केवल माध्यम होता है। हिन्दी की नई कविता इसी प्रकार की कही जाती है। दूसरे स्वर में कविता किसी सजग सामाजिक उद्देश्य के लिए लिखी जाती है। मनोरंजन या उपदेश के लिए लिखा गया साहित्य, व्यंग्य-काव्य, नीति काव्य इसी कोटि में आता है। ऐसी कविताओं में कुछ अंश तक 'रूप' पूर्वनिर्धारित होता है।

वस्तुत: किसी भी कविता में केवल एक स्वर मिलना कठिन है। कविता के ये तीनों स्वर परस्पर संगत रहकर एक साथ रहते हैं। यदि कवि ने निज से कभी कुछ नहीं कहा, तो उसकी कृति कविता नहीं होगी, शानदार वक्तृव्य भले ही हो। किन्तु यदि कवि ने नितान्त अपने लिए कविता लिखी है, तो वह व्यक्तिगत और अपरिचित भाषा में होगी; जो कविता केवल कवि के लिए होगी, वह कविता नहीं हो सकती।

निर्वैयक्तिकता

कवि वैज्ञानिक के समान ही निर्वैयक्तिक और वस्तुनिष्ठ होता है उसका कार्य आत्म-निरपेक्ष होता है। इलियट अनेकता को एकता में बांधने के लिए परम्परा को आवश्यक मानते हैं, जो व्यक्तिकता की विरोधी है। निर्वैयक्तिक के दो रूप होते हैं। एक वह जो 'कुशल शिल्पी भाव' के लिए प्राकृतिक होती है दूसरी वह जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है। ये उस प्रौढ़ कवि की होती है। जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है। इलियट की निर्वैयक्तिता का अर्थ है– कवि के व्यक्तिगत भावों की विशिष्टता का सामान्यीकरण। कवि अपनी तीन संवेदना और ग्रहण क्षमता से अन्य लोगों की अनुभूतियों को आयत कर लेता है।

वस्तुनिष्ठ समीकरण (Objective corelative)–इलियट ने 'हैमलेट' को कलात्मक असफलता का सबसे बड़ा उदाहरण कहा है। इसी प्रसंग में 'वस्तुमूलक प्रतिरूपता' का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। इलियट का कथन है, कला में भाव-प्रदर्शन का एक ही मार्ग है, वह यह है कि उसके लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण (Objective corelative) प्रस्तुत किया जाए। दूसरे शब्दों में, ऐसी वस्तु-संघटना, स्थिति, किसी घटना-श्रृखंला के द्वारा ही कहता है। वह अपनी संवदेनाओं और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए वस्तुमूलक चिन्हों से काम लेता है। फलतः अमूर्त भावनाएँ मूर्त रूप में प्रकट हो जाती हैं। इन मूर्त चिन्हों अथवा प्रतीकों से ठीक वही भावनाओं और उनके मूर्त-विधान में पूर्ण सामंजस्य और एकरूपता हो। चाहें तो हम इलियट के इस वस्तुनिष्ठ समीकरण को विभाव-विधान' कह सकते हैं यह विभाव-विधान ऐसा होना चाहिए कि सामाजिकों में नाटककार के मानव-भाव जाग्रत हो सकें।

काव्य भाषा-सम्बन्धी विचार– कविता भाव-प्रधान होती है। प्रत्येक जाति और राष्ट्र की अनुभूति-शक्ति की निजी विशिष्टता होती है और वही भाषा में सम्पूर्णतः व्यक्त की जा सकती है। कवि को परम्परागत भाषा का त्याग कर नई भाषा अपनानी पड़ती है। इलियट मानता है कि कवि-कर्म भाषा के माध्यम से समाज को नवीन संवेदन-शक्ति और भावानुभूति प्रदान करता है। इन नवीन भावानुभूतियों को व्यक्त करने के लिए वह परम्परागत भाषा में संघर्ष करता है, उसे अपनी अभिव्यक्ति के अनुकूल बनाता है।

कविता की भाषा के सम्बन्ध में इलियट का एक मत यह भी है; कि कवि की भाषा को युग की भाषा के इतना निकट होना चाहिए कि श्रोता या पाठक उसे सुनकर या पढ़कर कह उठे कि 'यदि मैं कविता में बात करना जानता, तो इस प्रकार बात करता।' वह मानता है कि आधुनिक युग में कविता गाने के लिए नहीं बोलने के लिए लिखी जाती है, अतः उसका सम्बन्ध बोलचाल की भाषा से होना चाहिए।

समीक्षा और समीक्षक– इलियट के अनुसार निष्पक्ष समीक्षा दार्शनिक, विवेचक या निष्पक्ष समीक्षक ही कर सकता है। समीक्षक का कार्य बड़ा उत्तरदायित्वपूर्ण है, अतः उसमें इलियट ने सूक्ष्म और प्रचुर संवेदन-शक्ति की आवश्यकता स्वीकार की है। समीक्षक की साहित्य के अतिरिक्त अन्य विषयों में भी रुचि होनी चाहिए। उसे जीवन का अनुभव और ज्ञान होना चाहिए। इलियट के अनुसार समीक्षा का मूलभूत कार्य है साहित्य का बोध कराना और उसका आनन्द बढ़ाना। उनका मुख्य उद्देश्य कृतियों की व्याख्या कर लोक-अभिरुचि को परिष्कृत करना भी है। उसका कार्य यह भी बताना है कि आनन्द लेने योग्य क्या नहीं है। कविता का बोध प्राप्त करने को उसका आनन्द लेना ही मानते हैं।

काव्य के बोध-पक्ष से सम्बन्धित पहली प्रवृत्ति है– कवि की जीवनी, उसके युग की विभिन्न प्रवृत्तियों, उसकी विभिन्न प्रेरणाओं की खोज करना। यह एक प्रकार से काव्य का मनोवैज्ञानिक, जीवन चरितात्मक, समाजशास्त्रीय या वैज्ञानिक अध्ययन है। इलियट इस प्रकार की समीक्षा-प्रवृत्ति की उपयोगिता तो स्वीकार करते हैं, पर साथ ही कहते हैं कि जहाँ उसकी आवश्यकता न हो, जहाँ आवश्यकता से अधिक इस प्रकार के तथ्य एकत्र किए जाएं, वहाँ हानि होगी; उससे साहित्य-बोध और उसके आनन्द में बाधा पड़ सकती

है।

बोध-पक्ष से सम्बन्धित दूसरी प्रवृत्ति में काव्यकृति को कवि या उसकी अन्य काव्यकृतियों के सन्दर्भ के बिना समझने का प्रयत्न किया जाता है और ऐसा करते समय कविता के प्रत्येक अवयव, प्रत्येक पंक्ति का विश्लेषण करते हुए उसके अर्थ को निचोड़ने का प्रयत्न किया जाता है। यह पद्धति काव्य-रस की प्राप्ति में बाधक है।

ये दोनों पद्धतियाँ काव्य की वस्तुनिष्ठ समीक्षा के दो प्रकार हैं– एक में काव्योद्भव के मूलभूत कारणों की छान-बीन करने को प्राथमिकता दी जाती है। दूसरी में कृति का अध्ययन किया जाता है। पाठक के सम्मुख कृति के अनुद्घाटित रूप को उद्घाटित कर दे, पाठक को वह सब कुछ बता दे जिसके सहारे वह कृति की आत्मा के सम्मुख खड़ा हो जाए। काव्य-रस का आस्वादन करने का कार्य उसे पाठक पर ही छोड़ देना चाहिए। उसका कार्य तो कृति में व्यक्त देश-कालनिरेपक्ष सामान्य मानवीय अनुभूति को पाठक की संवदेना शक्ति के सम्मुख प्रस्तुत कर देना है। इलियट ने वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ दोनों प्रकार के काव्य-अध्ययनों का काव्यस्वादन के लिए अनिवार्य माना है।

साहित्य का मूल्य– आरम्भ में इलियट कविता के स्वतन्त्र अस्तित्व और उसकी वस्तुनिष्ठ प्रकृति के प्रबल आग्रही थे और वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति या आत्मनिष्ठ कविता के विरोधी थे। आरम्भ में साहित्य के नैतिक मूल्यों के निरूपण की ओर उनका ध्यान प्राय: नहीं था, किन्तु धीरे-धीरे इधर भी उनका ध्यान गया। यद्यपि वह साहित्यिक कृति में साहित्य-मूल्य को अनिवार्य मानते हैं परी जब साहित्यिक मूल्यों के आधार पर यह निश्चित हो जाए कि अमुक कृति साहित्यिक है, तो यह निश्चित करना भी आवश्क है कि उसका नैतिक मूल्य क्या है।

धर्म और साहित्य के विवेचन में इलियट ने कहा कि सम्बन्ध कितने ही प्रकार का हो सकता है। धार्मिक में काव्यत्व हो सकता है कि और होता भी है, पर उसे काव्यत्व के लिए नही पढ़ा जाता। जो कृति धर्म को काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करती है, उनकी दृष्टि में वह कृति प्रचार-काव्य होगा, अत: वह उच्चकोटि का साहित्य नहीं हो सकता। पर यदि ऐसी धार्मिक प्रबुद्धता (Religious awareness) बिना प्रयास के किसी कृति में व्याप्त हो, तो वह उच्चकोटि की होगी; उसमें धर्म और साहित्य का वांछित सम्बन्ध होगा। अत: यह आवश्यक नहीं कि कवि अपनी कृति में नीति या धर्म का उपदेश दे, वैसा करना तो असाहित्यिक होगा। आवश्यक यह है कि उसकी धार्मिक प्रबुद्धता उसकी कृति में स्वत: स्फुरित रहे। जो साहित्य हमें जीने की कला सिखाए, वह महान् होगा।

6.4 वस्तुनिष्ठ प्रतिरूपता सिद्धान्त

इलियट का कथन है, "कला में भाव प्रदर्शन का एक मार्ग है, और वह यह है कि उसके लिए वस्तुनिष्ठ समीकरण को प्रस्तुत किया जाये, दूसरे शब्दों में ऐसी वस्तु संघटना, स्थिति घटना शृंखला प्रस्तुत की जाये जो उस नाटकीय भाव का सूत्र हो ताकि ये बाह्य वस्तुएं, जिनका पर्यवसान मूर्त मानस-अनुभव में हो जब प्रस्तुत की जाए तो तुरन्त भावोद्रेक हो जाय।

6.5 योगदान

इलियट कविता के स्वतन्त्र अस्तित्व और वस्तुनिष्ठ प्रकृति के प्रबल आग्रही थे। साहित्यिक कृति में साहित्यिक मूल्य को अनिवार्य मानते हैं। धर्म साहित्य के सम्बन्ध की विवेचना में इलियट ने कहा

कि यह सम्बन्ध कितने ही प्रकार का हो सकता है। इलियट बीसवीं शताब्दी के समर्थ समीक्षक थे। उद्देश्य की दृष्टियों से इलियट आनन्द और नीति इन दोनों बातों के भारतीय आचार्यों के समान ही समर्थक थे।

जो साहित्य हमें जीने की कला सिखाए, वह महान होगा, परन्तु यह ज्ञान सजग प्रयत्न न होकर अप्रत्यक्ष रीति से दिया जाना चाहिए। उनके अधिकांश मत भारतीय काव्य-शास्त्रीय मतों, विशेषत: रस सिद्धान्त से मेल खाते हैं। शुरू में उनके द्वारा व्यक्त मतों में भ्रान्ति हो सकती है, परन्तु जैसे-जैसे उनका चिन्तन बढ़ता गया, इन्होंने अपने पूर्व-मतों को सुधारा और स्वरूप नवीन मतो की स्थापना की। इसी कारण नव-बोधपूर्ण विधात्मक साहित्य पर आज इलियट का प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

बोध प्रश्न

1. अनेकता में एकता को बाँधने के लिए इलियट क्या आवश्यक मानते हैं?

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

2. इलियट के अनुसार निवैयक्ति क्या है?

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

सारांश

इलियट कवि की तुलना वैज्ञानिक से करते हैं। उनके अनुसार कवि वैज्ञानिक की तरह ही निवैयक्तिक एवं वस्तुनिष्ठ होता है। वह व्यक्तियों का विरोध करते हैं। उन्होंने निर्वेयक्तिता के दो रूप कहे हैं।

खंड

7

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद

पाठ का प्रारूप

7.1 उद्देश्य
7.2 भूमिका
7.3 अर्थ
7.4 वक्रोक्ति सिद्धान्त
7.5 अभिव्यंजना और वक्रोक्तिवाद
7.6 अभिव्यंजनावाद का स्वरूप विवेचन
7.7 क्रोच के दार्शनिक विचार
7.8 कला के साथ सम्बन्ध
❑ बोध प्रश्न
❑ सारांश

7.1 उद्देश्य

इस खंड के अधययन के पश्चात्-विद्यार्थी योग्य होगें-

- अर्थ और वक्रोक्ति सिद्धान्त को समझने में।
- अभिव्यंजना और वक्रोक्तिवाद को समझने में।
- अभिव्यंजनावाद का स्वरूप विवेचन को समझने में।
- क्रोच के दार्शनिक विचार और कला के साथ सम्बन्ध को समझने में।

7.2 भूमिका

संस्कृत साहित्य में वक्रोक्ति सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य कुन्तक इसके प्रवर्तक कहे गए हैं। भामह ने इस पर विस्तार से विचार-विमर्श किया है। अभिन्नव्यंजनावाद या मूल स्वच्छन्तावाद की उस प्रवृत्ति में है जो परम्परा यदि आदि की विरोधी हो अपनी आत्मा की सहायता से कलाकार सत्य का दर्शन करता है वह उसका सत्यता के प्रकाशन करता है।

7.3 अर्थ

कला के लिए सिद्धांत में बहुत कुछ उचित, स्वास्थ्यकार और उपयोगी सिद्धान्त होते हुए भी कुछ दोष हैं। परम्परा के प्रति आदर के अभाव में इस सिद्धांत के मानने वालों ने आवश्यकता से अधिक नवीनता पर बल दिया। व्यक्तिवाद में अगाध आस्था में उन्हें यह करने की प्रेरणा दी।

"Each of them held a little candle locked up in the chamber of his soul and the light of it saw within himself the only reality that mattered."

अर्थात् प्रत्येक कलाकार अपनी आत्मा के आलोक की सहायता से वास्ताविक और सत्य को देख लेता है। वही सत्य उसे कला के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहिए और उसे जनता के लिए न लिखकर स्वान्तः सुखाय लिखना चाहिए, क्योंकि उस दिव्य आलोक तक पहुंचना जनता की शक्ति के बाहर है। 'कलर कला के लिए' सिद्धांत मानने वालों के बाद प्रोटेगौरियन सिद्धांत Man is the measure of all things' अर्थात् मनुष्य ही सब चीजों की कसौटी है के मानने वाले मुक्त रूप से कहते थे, ''यह मेरा संसार है– चाहो तो ग्रहण करो, चाहे त्याग दो।'' उन्हें जनता, उसकी भावना, रुचि अरुचि की चिन्ता न थी। वह स्वच्छन्तावादी कला का युग था जब कहा जाता था कि बच्चों को चित्रकार बनाने के लिए चित्रकला की शिक्षा नहीं देनी चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से बच्चे के कोमल मन पर दूसरों के विचार अड्डा जमा लेंगे और वह स्वतन्त्र मौलिक अभिव्यंजना न कर पाएगा, उसकी प्रतिभा कुण्ठित हो जाएगी।

क्रोचे मूलतः आत्मावादी थे, परन्तु दार्शनिक सौन्दर्य दर्शन की चरम परिणति उनके विचारों से प्राप्त होती है।

उन्होंने मानसिक क्रियाओं को ही एकमात्र प्रधानता दी और बाध्य उपकरणें को केवल गौण साधना माना। उसने मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को अस्वीकार किया।

उनका अभिव्यंजवाद काव्य पर ही लागू नहीं होता, सभी ललित कलाओं के लिए समान रूप से महत्व रखता है उसकी पुस्तक 'एस्थेटिक' (1902 ई.) सौन्दर्य शास्त्र की पुस्तक है जो कला के एक विशिष्ट सिद्धांत को निरूपित करती है।

क्रोचे आत्मा की मूलतः दो क्रियाएं मातने हैं। (1) सैद्धान्तिक या विचारात्मक तथा (2) व्यावहारिक। व्यावहरिक क्रिया के दो रूप होते हैं– उपयोगी या आर्थिक (useful or economic), तथा नैतिक (moral) यह व्यावहारिक क्रिया मनुष्य की इच्छा शक्ति (will) पर निर्भर रहती है। सैद्धान्तिक क्रिया के भी दो प्रकार हैं। स्वयं प्रकाश ज्ञान (Intutive knowledge) तथा तर्क-ज्ञान (conceptual knowledge) तर्क से प्राप्त ज्ञान का सम्बन्ध निश्चात्यक बुद्धि तथा पदार्थ बोध (concept) होता है।

इसके विपरीत स्वयं प्रकाश (intution) का सम्बन्ध व्यष्टि या विशेष पदार्थ से होता है और वह कल्पना द्वारा कला का उत्पादक होता है। स्वयं प्रकाश ज्ञान बौद्धिक से स्वतन्त्र और स्वायत्त होता है।

तर्क पर पहुंचने के लिए बुद्धि का सहारा लिया जाता है, तर्क ज्ञान पदार्थ बोध (concept) की एवं बुद्धि की सहायता से हम निर्णय करते हैं कि मनुष्य विचारशील प्राणी होता है; कल्पना हमारे मानस में ऐसे प्राणी का बिम्ब अंकित कर देती है। प्रतिभा के समय तर्क-ज्ञान की उपस्थिति आवश्यक नहीं।

प्रत्यक्ष ज्ञान में वास्ताविक और अवास्ताविक के अन्तर का ज्ञान रहता है, उसके देशकाल का ज्ञान रहता है, जबकि स्वयं प्रकाश ज्ञान में देशकाल का भेद नहीं रहता। जो वस्तुएं हमारे सामने हैं, उनका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, किन्तु हमारे मन में ऐसी वस्तुओं और दृश्यों का भी चित्र उभरता है, जो हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं है।

क्रोचे सहज-ज्ञान को संवदेनों (sensations) से ही भिन्न मानता है। संवेदन अस्थिर एवं अरूप होते हैं, स्वयं प्रकाश्य ज्ञान की सामग्री कह सकते हैं। उसे हम जटिल तभी मानेंगे जब उनसे समुचित बिम्ब (image) की सृष्टि होती है। सहज ज्ञान यान्त्रिक और निष्क्रिय नहीं होता, वह ऐसा ज्ञान है जो सहज की घट में उतर जाता है, वह प्रभावों (impressions) की सक्रिय अभिव्यंजना है।

वस्तुओं के इन्द्रिय सम्पर्क के अवसर पर हमसे जो संवदेन उत्पन्न होता, वह अरूप (Formless) होता है। अर्न्तमान में उसकी कोई स्पष्ट भावना नहीं होता, उनके रूप का स्पष्ट बोध नहीं होता; मन में उसका रूप निर्मित ही नहीं होता, प्रतीति मात्रा होती है। संवेदना में यात्रिकता निष्क्रियता लक्षित होती है। इसके विपरीत सहजाभूति में एक प्राण-शक्ति, क्रियात्मक होती है। सहजानुभूति में एक प्राण-शक्ति, क्रियात्कता होती है। सहजाभूति एक प्रकार की आत्मि अनुभूति (spirital exprience) है जिसके आलोक में अदृश्य दृश्य, व्यक्ति अव्यक्त व्यक्त और अरुप रूपवान बन जाता है।

जब चित्रकार किसी वस्तु की झलक मात्र देखता है, तो हम नहीं कह सकते है कि उससे सहज -ज्ञान की उपलब्धि हुई है, यह हम तब मानेगें जब वह उसका पूर्ण प्रत्यक्षीकरण कर लेगा। इस प्रकार सहजानुभूति (intuation) को संवदेनों को अपने में खपाकर तथा उनके साथ एकाकर होकर एक मूर्त रूप प्राप्त कर लेती है वह उसे आत्म का अभिव्यंजात्मक कर्म (expression actgivity) मानता है। इसी कर्म के द्वारा कलाकार भावनाओं तथा संवेगों के वेग को नियन्त्रण में रखता है और प्रभावों को बिम्बों में अभिव्यक्ति कर स्वयं उनसे मुक्त हो जाता है। कॉलरिज भी तो इन्द्रिय बोधों और संवदेनों को व्यवस्था में ढालने वाली अन्तः शक्ति को प्राथमिक कल्पना कहता है।

क्रोचे का यह मत कि सहजानुभूति बिम्ब रूप या अभिव्यक्ति होती है वही कला है, बताता है कि कला ओर सहजानुभूति का अभिन्न सम्बन्ध है।

"In Croche's philosophy art is nothing but intuation or the expression within the mind of impressons. The mind is always forming or half-forming intutions..."

क्रोचे के अनुसार स्वयं प्रकाश में असाधारण तीव्रता होने पर ही कला का सूत्रपात होता है। स्वयंप्रकाश्य में विभेद नहीं माना है, भेद होता है तो केवल व्यापकता और समृद्धि में; कलाकार के स्वयंप्रकाश सामान्य जन के स्वयंप्रकाश से अधिक विस्तृत, समृद्ध एवं सुस्पष्ट होते हैं। यदि कल्पना प्रखर है और हमारा सहजज्ञान समर्थ है, तभी हम उच्चकोटि के कवि चित्रकार अथवा मूर्तिकार बन सकते हैं। विशिष्टता कथावस्तु में नहीं, कलाकार की दृष्टि में होती है प्रभाव बिम्बों को कल्पना के द्वारा रूपात्मक अभिव्यक्ति देने में होती है। निर्जीकता का मूल है आधेय की कच्ची पकड़ न कि आधये के तथ्यगत गुणों की त्रुटि।

क्रोचे की दृष्टि में कलाकार अपनी सहजानुभूति को पूर्ण अभिव्यक्ति देने में प्रयत्नशील रहता है। उसके मन पर पड़े प्रभाव कल्पना का रंग ग्रहण कर विशद् और मूर्त हो उठते हैं। जब कलाकार अपने मानस में अनुभूति के लिए शब्द प्राप्त कर लेता है, किसी आकृति या मूर्ति की धारणा निश्चित एवं स्पष्ट हो जाती है, बस तभी माना जाएगा कि अभिव्यंजना उत्पन्न हो गई। यदि वह चित्र या मूर्ति का निर्माण करता है, तो वह अतिरिक्त क्रिया होगी।

क्रोचे अभिव्यंजना अर्थात् कला को आन्तरिक क्रिया मानता है और इसी उसी में सौन्दर्य तत्व का अधिवास स्वीकार करता है।

"The aesthetic fact is altogether completed in the expressive elaboration of impressions... work art is always internal."

वह सहजानुभूति को शब्दों रंग-रेखाओं में व्यक्त करना आवश्यक नहीं समझता बाह्य अभिव्यंजना का कला के विशुद्ध क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं।

विश्व में जो भी उदात्ततम कविताएँ निर्मित हुई हैं, वे कवि की मूल भावना की धूमिल छाया ही तो हैं। के विषय में लिखा है था कि मिल्टन उसकी भावना को उसके निर्माण के पूर्व ही समग्रत: ग्रहण कवि काव्य निर्माण के पूर्व कृति का समग्र मानव दर्शन करता है, अपने अन्तर्मन में उसका खाका खींच लेता है। क्रोचे की दृष्टि में प्रेषण और बाह्य प्रकाशन तो केवल सहायक साधना मात्र है एवं मित्र कविता बाह्य उद्दीपन मात्र हैं जिससे मन में सहजानुभूति का जन्म हुआ था। अत: बाह्य अभिव्यक्ति तो केवल व्यावहारिक उपयोगिता के लिए है; उसके द्वारा कवि अपनी अनुभूति को अपने और दूसरों के लिए चिरकाल तक सुरक्षित रखता है।

7.4 वक्रोक्ति सिद्धान्त

वक्रोक्ति-सम्प्रदाय का भी संस्कृत काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। आचार्य कुन्तक इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं, किन्तु इनसे पूर्व ही काव्य में वक्रोक्ति की महत्ता प्रतिष्ठित हो चुकी है। इस विषय में सर्वप्रथम आचार्य भामह का विवेचन उपलब्ध होता है। इनके वक्रोक्ति -विषयक निम्नलिखित विचार-विचारणीय है–

1. अर्थ और शब्द की वक्रोक्ति ही वाणी का अलंकार मानी जाती है।

2. शब्द और अर्थ की वक्रता की अलंकारत्व के सम्पादन में कारण होती है।

3. जो वचन किसी निर्मित से लोकातिक्रांतागोचर हो, उसे अलंकार के रूप में अतिशयोक्ति माना जाता है। यह सभी अतिशयोक्ति वक्रोक्ति का ही रूप है।

4. वक्रोक्ति के अभाव के कारण हेतु, सूक्ष्म और लेश को अलंकार मानना उचित नहीं है।

5. वैदर्भी इत्यादि रीतियों की सार्थकता वक्रोचित के कारण ही मान्य है।

इन उक्तियों से स्पष्ट है कि भामह काव्य में वक्रोक्ति का विशेष महत्व स्वीकार करते हैं और वक्रोक्ति के अभाव में वे किसी भी काव्य का काव्यत्व मानने को तैयार नहीं है। यह तथ्य विशेष विचारणीय भी है कि उक्ति अर्थ और भाव की वक्रता ही वास्तव में काव्यत्व का रूप धारण करती है।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त का इतना गम्भीर विवेचन करने के उपरान्त भी कुन्तक काव्य की आत्मा तक नहीं पहुँच पाये, केवल शरीर को ही छूकर रह गए।

7.5 अभिव्यंजना और वक्रोक्तिवाद

आचार्य शुक्ल ने अभिव्यंजनावाद को वक्रोक्तिवाद का लिलायती उत्थान कहा है। अपने इन्दौर वाले भाषण में उन्होंने कहा "अभिव्यंजानावाद सच पूछिए कि एक प्रकार का वक्रोक्तिवाद है।" परन्तु शुक्ल जी की यह धारणा भ्रामक है जिसे हम रूप या अभिव्यंजनावाद कहते हैं, क्रोचे के उस रूप या अभिव्यंजना के आन्तरिक होने के कारण वाग्वैचित्य के लिए कोई स्थान नहीं है।

इन दिनों सिद्धातों में कुछ साम्य होते हुए भी उतनी ही अन्तर है जितना पूर्व और पश्चित में।

कुन्तक ओर क्रोचे दोनों कलावादी आचार्य थे अत: दोनों ने अभिव्यंजना को कला का प्राण-तत्व माना है। दोनों ने काव्य में कल्पना तत्व को प्रधानता दी। है। दोनों अभिव्यंजना को अखंड मानते हैं, तो दोनों काव्य में अन्यून तथा अनतिरिक्त प्रयोग को आवश्यक मानते हैं, दोनो का कहना है कि एक अर्थ का वाचक एक ही शब्द होता है, दोनों अलंकार की बाह्यता का खडंन करते हैं। दोनों सफल अभिव्यंजना में श्रेणियां स्वीकार नहीं करते। दोनों के अनुसार, काव्य में अभिव्यजंना सफल होती है, वह कम या अधिक सफल नहीं होती।

इन समानाताओं के होते हुए कि दोनों वाद पर्याप्त मात्रा में भिन्न हैं, क्योंकि एक का प्रचारक अलंकारवादी था तथा दूसरे का दार्शनिक। क्रोचे का विचार क्षेत्र कलामात्र हैं, कुंतक का क्षेत्र काव्य तक सीमित था। क्रोचे का विवेचन कला के सर्जन से सम्बद्ध है, कुन्तक का काव्य के आस्वादन से। कुन्तक ने अलंकारवादी आचार्य होने के नाते अलंकारमयी उक्ति, वैदग्ध्तापूर्ण श

शैली कवि कर्म-कौशल आदि काव्य के बाह्य अंगों पर बल दिया। उस ने चमत्कारपूर्ण तथा को काव्य माना है। इसके विपरीत क्रोचे दार्शनिक था, वह सहजानुभूति को ही अभिव्यंजना मानता था। अत: इसके लिए चमत्कारपूर्ण और चमत्कारहीन, वक्र तथा ऋतु उक्ति का भेद था ही नहीं। वह तो असफल अभिव्यंजना का आस्तित्व ही नहीं मानता। वस्तुत: क्रोचे के लिए कला, सहजानुभूति अभिव्यंजना पर्यायवाची हैं, अत: उसकी दृष्टि में काव्य के बाह्य और आन्तरिक भेद नहीं किए जा सकते– विषय और शैली को अलग-अलग नहीं किया जा सकता– उक्ति को वक्र और ऋतु भेदों में नहीं बांटा जा सकता।

क्रोचे के अनुसार काव्य की आत्मा, सहजानुभूति हैं, अत: कवि के लिए आयाम नहीं करना पड़ता। जबकि कुन्तक के अनुसार काव्य का चरम उद्देश्य आनन्द नहीं, आनन्द तो अभिव्यजंना का सहचारी हैं कवि काव्य-रचना अभिव्यंजना के लिए करता है, हाँ, अभिव्यंजना के समय आनन्द उसे प्राप्त अवश्य होता है। इसके विपरीत कुन्तक काव्य का चरम लक्ष्य आनन्द मानते हैं और सौन्दर्य को उसका कारण स्वीकार करते हैं।

क्रोचे वस्तु और रूप, विषय अभिव्यंजना में अभेद मानते हैं, कुतंक दोनों के भेद मानते हैं। क्रोचे के विवेचन में वस्तु-तत्व की स्थिति अत्यन्त गौण हैं, वह किसी भी विषय को, यदि उसमें कलाकार को प्रभावित करने की शक्ति है, उसके मन:पटल पर बिम्ब अंकित करने की क्षमता है, काव्य या कला के लिए उपयुक्त मानता है, भले ही वह जुगुप्सारक और कुरूप ही क्यों न हो। इसके विपरीत कुन्तक के मत में विषयवस्तु का पर्याप्त महत्व है।

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में नीति-अनीति का प्रश्न नहीं उठता, जबकि वक्रोक्तिवाद भारतीय दर्शन और विचार परम्परा के अनुरूप नीतिवादिता को कभी नहीं त्याग सका। क्रोचे विभाजन और वर्गीकरण के विरोधी हैं, कुन्तक का विवेचन वर्गीकरण पर आश्रित है।

वक्रोक्तिवाद आरम्भ में केवल शब्द या अर्थ में चमत्कार उत्पन्न करने पर बल न देकर रस को भी प्रेय मानता था, पर बाद में वह संकुचित होकर केवल चमत्कारियों का सम्प्रदाय बन गया, उसी प्रकार यद्यपि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में वाग्वैदध्य और चमत्कार मात्र पर आग्रह न था, पर उनके कलावासियों ने उसे चमत्कार बना डाला।

7.6 अभिव्यंजनावाद का स्वरूप विवेचन

अभिव्यंजनावाद का मूल स्रोत वस्तुत: स्वच्छन्दतावाद की उस प्रवृत्ति में है, जो परम्परा, रूढ़ि, नियम आदि का विरोध करती है। अर्थात् प्रत्येक कलाकार अपनी आत्मा के आलोक की सहायता से वास्ताविक

सत्य को देख लेता है। वही सत्य उसे कला का माध्यम से प्रस्तुत करना चाहिए। जिस युग में क्रोचे का जन्म हुआ (1866-1942 ई.), उस स्वछन्दतावादी कला के युग में कहा जाता था कि बच्चों को चित्रकार बनाने के लिए चित्रकला की शिक्षा नहीं देनी चाहिए क्योंकि ऐसा करने से बच्चे के कोमल मन पर दूसरों के विचार अड्डा जमा लेते हैं और वह स्वतन्त्र अभिव्यंजना नहीं कर पाता।

अभिव्यंजना ज्ञान-रूप है और काव्य प्रकाशन कर्म-रूप बिना ज्ञान के कर्म असम्भव है, किन्तु ज्ञान का अस्तित्व कर्म पर आश्रित नहीं रहता। अत: कला जब सिद्धांत के क्षेत्र में आगे बढ़ व्यवहार के क्षेत्र में पदार्पण करती है, तभी उसके सामने प्रयोजन आदि के प्रश्न प्रस्तुत होते हैं, अन्यथा अभिव्यंजना सौंदर्य अथवा कला का एक ही प्रयोजन है, मन में सहज-ज्ञान को आलोकित अथवा अभिव्यंजित करना। उससे जो संतोष और आनन्द मिलता है, उसका मूल्य हम उपयोगिता अथवा नैतिकता की कसौटी पर कसकर निर्धारित नहीं कर सकते। कला का आनन्द तो सफल अभिव्यक्ति से प्राप्त आत्ममुक्ति का आनन्द है। सफल अभिव्यक्ति के क्षण में कलाकार को ऐसा लगता है जैसे वह मुक्त हो गया हो। क्रोचे का यह भी मत है कि सफल अभिव्यक्ति में ही सौन्दर्य निवास करता है यदि अभिव्यक्ति सफल नहीं है तो अभिव्यक्ति ही नहीं है।

"Beauty is sucessful expresion or better expression and nothing more, because expression when it is not successful is not expression.

ऊपर के विवेचन से हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंचते हैं–

1. कला, अभिव्यंजना और सहानुभूति पर्यावाची हैं।

2. अभिव्यंजना बाह्य नहीं मानसिक या आतंरिक होती है, अत: कला आन्तरिक प्रक्रिया है।

3. बाह्य कला-कृतियों द्वारा कलाकर अपने अनुभव को अपने तथा दूसरों के लिए सुरक्षित रखता है। अत: वे aids of memory हैं।

4. असफल अभिव्यंजना कोई वस्तु नहीं होती।

5. कलाकार के लिए सुन्दर तथा असुन्दर का कोई भेद नहीं; उसे कलाकर के मन पर बिम्ब अंकित करने में समर्थ होना चाहिए।

6. रूप (from) ही सौन्दर्य का आधर है जो अभिव्यंजना का मूल है।

7. कल्पना सौन्दर्य का अनिवार्य तत्व है।

8. कला-सृजन की प्रक्रिया को चार स्थितियों में रखा जा सकता है।

(क) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा वस्तुओं का प्रत्यक्षिकरण जो क्रमश: संवेदना में परिणत होकर संस्कार (impression) बन जाता है, (ख) अरूप संवदेनों की कल्पना-शक्ति द्वारा आंतरिक अन्विति या अभिव्यंजना (spirtitual symthesis syunthesis), (ग) सौन्दर्य की भावना से उत्पन्न आनुषंगिक अभिव्यंजना का शब्द, रंग, रेखा आदि में मूर्तिकरण। क्रोचे इसे शिल्प विधान (craft) कहते हैं। इसके अर्न्तगत ही प्रणिधन (mediatation) आता है जिसमें कलाकार ग्रहण और त्याग, स्वीकृति-अस्वीकृति की प्रक्रिया से गुजरता है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कलाकृति का निर्माण होता है इनमें से चौथी को क्रोचे अनिवार्य नहीं मानता।

क्रोचे ने कला दर्शन को आदर्श की चरम सीमा तक पहुंचा दिया है। उसमें भौतिकता, व्यावरिकता और विशुद्ध बौद्धिकता के लिए स्थान नहीं है। ज्ञान की ऐसी सैद्धांतिक प्रक्रिया को जिसमें संवदेनाएं स्वयं प्रकाश के रूप में विशिष्ट रूप ग्रहण करती हैं कला कहते हैं। समस्त प्रक्रिया कलाकार के मन में सम्पन्न होती है। वही उसका एकमात्र भोक्ता और समीक्षक हो सकता है।

क्रोचे के मत की आलोचना– क्रोचे के मत पर सर्वप्रथम आपत्ति यह है कि वह बाह्य अभिव्यंजना को अनावश्यक मानकर कलाकर को ऐसी स्वछन्दता दे देता है जो अराजकता और अव्यवस्था में परिणत हो सकती है। वह कहता है कि प्रत्येक वस्तु कलाकार के मस्तिष्क में घटित होती है, सौन्दर्य की अभिव्यंजना आंतरिक होती है, जिन प्रभावों या पदार्थों को वह मूर्तिमान करता है, वे केवल उसी के लिए मूर्तिमान होते हैं वे बाह्य आकार धारण नहीं करते, जिससे आलोचक उसका परिचय प्राप्त कर सके। यदि वे बाह्य रूपाकार धारण नहीं करेंगे, केवल कलाकार के मन में छिपे रहेंगे, तो सहृदय उनका भाव और आलोचक उनका मूल्यांकन कैसे कर पायेगा, उनके अच्छे या बुरे होने का निर्णय कैसे देगा?

वह अभिव्यंजना के सुन्दर-असुन्दर होने का भी निर्णय न कर सकेगा क्योंकि, वह बाह्य न होकर केवल आंतरिक होगी इस प्रकार कलाकार पर किसी तरह का अकुंश न रहने से वह मनमानी करेगा; बाह्य कलाकृति के अभाव में, वह भी जो वस्तुतः सच्चे कलाकार नहीं है, कलाकार होने का दम्भ करेंगे, यह कहकर कि उन्होंने अपने मन में सहाजनुभूति उपलब्ध की है। क्रोचे की मान्यताएं अमूर्त सौन्दर्य बोध के जगत का अन्वेषण करती हैं जबकि कला का क्षेत्र मूर्त है। क्रोचे यह कहता है कि कला सहजाभूति है, सहजाभूति वैयक्तिक होती है और वैयक्तिक अनुभूति का कभी पुनर्भाव (repetition) नहीं होता तथा कि सुन्दर बाह्य कलाकृति की सहायता से भावुक भी वही सहजाभुति अनुभव करता है जो कलाकार की सहानुभूति होती है। जब सहजानुभूति वैयक्तिक होती है उसका पुनर्भावना नहीं हो सकता, तो फिर भावुक कैसे उसका भावन करेगा; क्रोचे इस आपत्ति का उत्तर नहीं दे पाता। यद्यपि वह कहता है कि कल्पना की सार्वभौमता के कारण यह कृत्य उसकी वैयक्तिक के मन में समान सहजानुभूतियों को जन्म देते हैं, परन्तु उसका यह मत उसकी वैयक्तिक सहजानुभूति के मत से मेल नहीं खाता। जब कलाकारों की सहजानुभूति वैयक्तिक और अभूतपूर्व (unique) होती है, तो फिर भावुक उसकी कलाकृति की देखकर वैसी ही सहाजानुभूति कैसे प्राप्त कर सकगा? वह स्वयं कलाकार की मानसिक स्थिति को कैसे प्रापत कर सकेगा।

उसका कथन है कि कला संवदेन पात्र नहीं होती। संवेदन और अनुभव तो बाह्य जीवन के अंग है और वे तब तक कला का रूप धारण नहीं करते जब तक कलाकार उनका पुनर्निमाण नहीं कर लेता। यहां तक क्रोचे की बात ठीक है पर गड़बड़ तब होती है जब वह कला शब्द का प्रयोग उस अर्थ में नहीं करता जो सर्वगृहात तथा सर्वमान्य है उसके लिए कला का अस्तित्व केवल उस क्षण तक रहता है तब तक कलाकार कलम, तलिका या छैनी नहीं पकड़ता केवल मानव-प्रक्रिया में रत रहता है, यों ही वह मानस क्षेत्र से निकलकर इन उपकरणों की सहायता से बाह्य-अभिव्यंजना में प्रवृत्त होगा, कला पीछे छूट जाएगी। सामान्य जन, जिसके लिए कला भौतिक कलाकृति के वास करती है क्रोचे की कला-सम्बन्धी इस धारणा को समझ पाते और उलझन में पड़ जाते हैं। कभी-कभी वह स्वयं यही गलती कर बैठता है अर्थात् कला का प्रयोग बाह्य कलाकृति के लिए कर बैठा है।

"Critics rebel against the them of the content as being unworthy of art."

यहां art शब्द का प्रयोग बाह्य कलाकृति के अर्थ में ही किया गया है, क्योंकि यदि विषय का सहजाभूति से सम्बन्ध हो, तो विद्रोह का प्रश्न नहीं उठता। प्रथम तक किसी को आंतरिक सहजानुभूति का ज्ञान ही दूसरे व्यक्ति को कैसे कर सकता है? वह अच्छी है या बुरी, इसका किसी को क्या पता लगेगा? दूसरे, जब तक कि आंतरिक है, बाह्य रूप धारण नहीं करती, तब तक उसकी आलोचना करने का भी किसी को अधिकार नहीं।

अभिव्यंजना पर अधिक बल देने के कारण कुछ लोगों ने यह समझ लिया कि क्रोचे विषय-वस्तु के चुनाव को आवश्यक नहीं मानता था और उसकी दृष्टि में कोई भी विषयवस्तु चाहे वह कितनी ही निकृष्ट या हीन क्यों न हो, कला का विषय बन सकती है बशर्ते कि उसकी अभिव्यंजना सफल और स्पष्ट हो। कला में

ऊल-जूलल बाते क्रोचे की इस मान्यता को यदि मान लिया जाये, तो इसके घोर दुष्परिणाम होंगे; फिर तो भी सनकी, विकृति, कुरूपता विक्षिप्तता कला का विषय बन जाएगी। यह कहकर कि उसकी सहजानुभूति कलाकार हो गयी थी। वस्तुत: क्रोचे का मत कदापि न था। जब कभी उसने बाह्य भौतिक कलाकृति की चर्चा की है, आलोचक को पूरा अधिकार दिया है कि वह उसकी निंदा करे या उसे स्वीकार करे। वह बाह्य कलाकृति के निर्माण के सम्बन्ध में कलाकार को पूरी छूट भी नहीं देता, क्योंकि उसका मत है कि ज्योंही कलाकार मानसिक जगत से हटकर सहजाभूति की आंतरिक अभिव्यक्ति के क्षेत्र से हटकर, उसे भौतिक स्थूल रूप देने की ओर प्रवृत्त होता है, वह कलाकार के अधिकारों और स्वतन्त्रता से वंचित हो जाता है और उसे जीवन तथा जगत नीति बन्धनों का पालन करना पड़ता है।

"If the extrenalization of art be understood by art, then unitity and morality have a prefect right to error it.... though it is neither the shore nor the hand maid of moralty or philosophy.

क्रोचे ने इस पक्ष पर कम ध्यान दिया है कि कलाकार का काम दूसरों तक अपने भावों को पहुंचना (communication) है और कलाकृतियों दूसरों को प्रभावित करने, उसने आनन्द प्रदान करने, शिक्षा देने या उनका भावोत्कर्ष करने के लिए निर्मित होती है और संसार उसका एक व्यावहारिक तथ्य है, वह क्रियात्मक मनोवृत्ति का व्यापार, वह किसी अनुभव को सुरक्षित रखने अथवा उसका प्रसार-प्रचार करने की इच्छा से निष्पन्न होता है, अत: वह कला से बाह्य है। पर वस्तुत: वह कला का तात्विक धर्म है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य ने समाजिक मन विकसित किया है। वो जो कुछ कहता है वह चेतन रूप से या अचेतन रूप से, सब दूसरों से निवेदित करता है। वही सौन्दर्याभूति ठीक मानी जाती है जो निवेदित हो सके। कलाकार दुनिया से कटकर नहीं कर सकता। निश्चय ही दार्शनिक क्रोचे ने कलाकार को बाह्य अभिव्यंजना की स्वतन्त्रता न देकर या उसे हीन कार्य करके उसके प्रति अन्याय किया है। वस्तुत: कला के लिए भाषा का माध्यम अनिवार्य है। यह दूसरी बात है वह भाषा शब्दों की हो, रंगों की हो और और चाहे पत्थर या संगीत स्वरों की। वह भाषा कलाकार और भावुक को मिलाने वाली कड़ी है इसी के द्वारा कलाकृति को समझता है तथा उसे आन्दानुभूति प्राप्त करता है। भाषा समाहित है।

क्रोचे भाषा को ज्ञान-स्वरूप स्वीकार करता है। उसके अनुसार प्रत्येक अंत: प्रज्ञा कला है। सभी अत: प्रज्ञाएं सौन्दर्यपूर्ण नहीं होती। कला के लिए अंत: प्रज्ञा में सौन्दर्य की सत्ता आवश्यक है। उसने कला की अनुभूत्याकता का निषेध किया है। भावना को उसने बहुत कम महत्व दिया है और ऐसे सभी मतों का खंडन किया है तो कला का अनिवार्य ध्येय और साध्य मानते हैं। उसने कल्पना शास्त्र को प्रधानता देकर काव्य के रूप को ज्ञानात्मक कहा है जबकि भारतीय काव्य-शास्त्र में कल्पना का स्थान भावानुभूति के योग न कहकर अनुभूत्यात्मक ज्ञान होता है जिसमें अनुभूति की प्रधानता होती है यही कारण है कि वाद में क्रोचे को भी उसकी सत्ता आंशिक रूप में माननी पड़ी।

क्रोचे ने उसने कलाकार के मानस में विचरण करने वाले अरूप, अस्पष्ट अर्थहीन प्रभावों (impressions) की अंतरिक अभिव्यक्ति को कला कहा है। जीवन और मानव प्रभाव के मूलभूत तत्वों, संवेगों और अनुभवों को ही कलाकृति में स्थान देकर कलाकार अपनी रचना को निवेदनीय बना सकता है। वह फ्रोटोग्राफर की तरह जीवन के किसी विशिष्ट क्षणमात्र को अंकित नहीं करता, अपितु चित्रकार की तरह जीवन को उसके नैरन्तर्य में मानव को उसकी सार्वभौमता में चित्रित करता है, पर उसका विषय जीवन ही होता है। कलाकार की पद्धति सहज ज्ञान की पद्धति है, बौद्धिक तर्क की नहीं फिर भी उसका सहजज्ञान जीवल और उसकी प्रक्रिया से परिचित होता है। इसी प्रकार चूंकि निवेदनीयता कलाकर के लिए आवश्यक हैं। कला अभिव्यंजना अवश्य है पर प्रथम तो वह जीवन की अभिव्यंजना है, जीवन के उस रूप की अभिव्यंजना है जिसे कलाकार ने स्वयं

देखा और अनुभव किया है। यथार्थ के जगत के विशुद्ध सहजानुभूति का अस्तित्व नहीं होता, उसे बुद्धि से अथवा बिम्ब को धारणा से पृथक् नहीं किया जा सकता किन्तु क्रोचे इस तथ्य की अवलेहना करता है। श्रेष्ठ कविता विचार और भाव, बिम्ब और धारणा, सहजाभूति एवं बुद्धि से समन्वित होती है। कवि रचना के समय कुछ घटाता है, संशोधित की ओर भी ध्यान नहीं देता।

आत्मवादी क्रोचे मूर्त भावना या कल्पना का आत्मा की क्रिया मान उसका बाह्य जगत से कोई सम्बन्ध नहीं मानता, पर कलाकार की कल्पना वस्तुजगत से ही रूप प्राप्त करती है। क्रोचे सौन्दर्य और अभिव्यंजना में तर-तम् का भेद नहीं करता जबकि सौन्दर्य में श्रेणियां होती हैं, अभिव्यंजना भी कम या अधिक प्रभावी होती है। इस प्रकार क्रोचे का सिद्धांत दर्शन के क्षेत्र में तो मान्य हो सकता है, पर काव्य-शास्त्र या कला विवेचन के संदर्भ में उसमें त्रुटियां हैं।

उपलब्धि या योगदान– अमेरिकन विचारक स्पिगगार्न ने जिस नवीन समीक्षा के बारे में विस्तार से लिखा है, वह क्रोचे की देन है। ऑलिवर एल्टन नामक अंग्रेज लेखक के अनेक निबन्धों पर क्रोचे की छाप है। इटली में न केवल पिरॉडेली जैसे साहित्यकार वरन् अनेक आलोचक भी क्रोचे से प्रभावित हुए हैं। अभिव्यंजना सिद्धांत की स्वीकृति के बाद ऐसी आलोचना जो शिल्प एवं शैलीगत विशेषताओं (अलंकार छन्द आदि) पर आद्धत थी, अनावश्यक बतायी गयी और आलोचना में सच्चाई, स्वैच्छिकता स्वत: प्रवर्तिता आदि को महत्व दिया जाने लगा। कला और साहित्य के वर्गीकरण को भी क्रोचे ने अमान्य ठहराया और अभिव्यंजना को अखण्ड मानते हुए कला के क्लासिकल रोमांटिक प्राचीन मध्ययुगीन, आधुनिक आदि भेदों को निरर्थक बताया। उन्होंने कलाकृतियों को भेदों में रखना असंगत बताया क्योंकि रूप-वर्गीकरण का सिद्धांत भ्रांति पैदा करता है। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उनके सौन्दर्य दर्शन में सौन्दर्य और कला की कल्पना को अनेक तत्वों से पृथक् कर दिया गया है। उसने एक ओर भौतिकवाद और यथार्थवाद को कामवासना और कला को एक सूत्र को बांधने वाले मनोविज्ञान को त्याज्य बताया। नैतिकता और व्यहारिकता को कला की परिधि से निकालकर क्रोचे ने बौद्धिकता को भी कलातत्व से पृथक् कर दिया। इस प्रकार उन्होंने कला-समीक्षा को स्वतन्त्र और आत्मनिष्ठ बना दिया।

7.7 क्रोच के दार्शनिक विचार

क्रोचे मूलत: आत्मवादी दार्शनिक थे। इन्होंने कला का विवेचन दर्शन की छाया में किया है। वह आत्मा की मूलत: दो क्रियाएं मानते हैं–

(1) सैद्धान्तिक

(2) व्यवहारात्मक।

प्रथम के द्वारा मनुष्य ज्ञान प्राप्त करता है और दूसरी के द्वारा जीवन में व्यवहार करता है। वह ज्ञान के भी दो प्रकार मानता है–

(1) स्वयंप्रकाश या प्रतिभा-ज्ञान (Intutive knowledge)

(2) तर्क-ज्ञान (Concept knowledge)

स्वयंप्रकाश व्यष्टि का ज्ञान होता है, तर्क-ज्ञान सामान्य का ज्ञान होता है। स्वयंप्रकाश ज्ञान बिम्बों की रचना करता है, तथा प्रज्ञात्मक ज्ञान-बोध की। बुद्धि की सहायता से हम निर्णय करते हैं कि मनुष्य विचारशील प्राणी है, स्वयंप्रकाश ज्ञान कल्पना हमारे मन में एक ऐसे प्राणी का बिम्ब अंकित कर देता है जिसमें विचार करने की क्षमता है।

7.8 कला के साथ सम्बन्ध

क्रोचे की दृष्टि में कला एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। वह मानता है कि यदि कलाकार के मानस पटल पर कोई बिम्ब मूर्त हो उठती है, तो फिर वह आवश्यक नहीं कि वह उसे किसी माध्यम-चित्रफलक, पत्थर या संगीत स्वरों के द्वारा व्यक्त करें। वह कल्पना को अन्तर्मन की दृष्टि मानता है। जिस प्रकार की यह सृष्टि होगी, उसी प्रकार का रूप वह बाह्य वस्तु को प्रदान करेगा। प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि में निजी विशिष्टता होती है। यही दृष्टि सब कुछ है। जिस कलाकार का जितना अधिक विशद प्रत्यक्षीकरण होगा, उतनी ही विशद और सफल उसकी अभिव्यक्ति होगी और चूँकि अभिव्यक्ति ही कला है, अत: उतनी ही सफल उसकी कला होगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उत्कृष्टता विषय वस्तु में न होकर दृष्टि (vision) में होती है। अत: यदि बीभत्स और कुरूप भी कलाकार के मन पर प्रभाव डालते हैं, तो वे भी कला का विषय बन सकते हैं। इसी प्रभाव के परिणास्वरूप ही जो आज काव्य और कला में सभी प्रकार के विषय सशक्त अभिव्यक्ति पा रहे है। क्रोचे की दृष्टि में काव्य या कला आन्तरिक कृति है, जो कुछ बाह्य है, वह काव्य नहीं –

संवेदेनाओं को अभिव्यंजनात्मक रूप प्रदान करते ही कला का कार्य समाप्त हो जाता है। वह सहजानुभूति के शब्दों या रंगों मे व्यक्त करना अतिरिक्त क्रिया, अनावश्यक कार्य मानता है। उसके अनुसार मानस काव्य है और कवि द्रष्टा कि कलाकार बाह्य अभिव्यंजना करे, पर इस बाह्य या शाब्दिक अभिव्यंजना का कला के विशुद्ध क्षेत्र से कोई सम्बन्ध नहीं। क्रोचे का यह मत यदि उसकी सम्पूर्ण काव्य विवेचना के समन्वित प्रकाश में देखा जाये, तो उसमें पर्याप्त सत्य मिलेगा। महाकवि शैले ने भी कहा था। क्रोचे की दृष्टि में वे स्मृति की सहायक चीजें उनकी सहायतर से कलाकार अपनी सहाजानुभूति को पुन: प्रस्तुत (reproduce) कर लेता है, इनके कारण कालार की सहजानुभूतियाँ, बिम्ब आदि नष्ट नहीं होते– "*कभी-कभी हमारे मानस में ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं, जो प्रतिभा ज्ञान के रूप में तो होते हैं, किन्तु उनकी इतनी संक्षिप्त या विचित्र सी अभिव्यंजना होती है कि वे हमारे लिए जो पर्याप्त होते हैं, परन्तु अन्य व्यक्ति या व्यक्तियों तक सुगमतापूर्वक सम्प्रेषित किये जाने के लिए वे पर्याप्त नहीं होते हैं।*" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि क्रोचे सम्प्रेषण अर्थात् अपनी प्रतिभा अनुभूति को दूसरों तक पहुँचाने की बात को भी स्वीकार करता है।

कला का आनन्द

क्रोचे के अनुसार कला का आनन्द सफल अभिव्यक्ति से प्राप्त आत्म-मुक्ति का आनन्द है। सफल अभिव्यक्ति के क्षण में कलाकार को ऐसा लगता है जैसे वह मुक्त रह गया हो। उसकी दृष्टि में यदि अभिव्यक्ति सफल नहीं है, तो वह अभिव्यक्ति नहीं।

क्रोचे की दृष्टि में सहजाभूति, अभिव्यजंना और कला पर्यायवाची हैं। वह अभिव्यंजना को बाह्य नहीं मानसिक या आन्तरिक मानता है तथा उसे मुक्त प्ररेणा कहता है। बाह्य कलाकृतियों aiosq to memory मात्र हैं। असफल अभिव्यंजना नामक कोई वस्तु नहीं है तथा कला-सृजन की प्रक्रिया के चार सोपान हैं– अरूप संवेदन, कल्पना द्वारा उनकी आन्तरिक अन्विति, आंतरिक अभिव्यजंना और उसका शब्द, रंग-रेखा आदि के द्वारा मूर्तीकरण।

अभिव्यजंनावाद

वह बाह्य अभिव्यंजना को अनावश्यक मानकर कलाकार को ऐसी स्वच्छन्दता दे देता है जो अराजकता और अव्यवस्था में परिणित हो सकती है। उनका कथन है कि प्रत्येक वस्तु कलाकार के मस्तिष्क में

गठित होती है, सौन्दर्य की अभिव्यंजना आन्तरिक होती है, जिन प्रभावों या पदार्थों को वह मूर्तिमान करता है, वे केवल उसी के लिए मूर्तिमान होते हैं। क्रोचे एक ओर तो यह कहता है कि कला सहजानुभूति है, सहजानुभूति वैयक्तिक होती है और वैयक्तिक अनुभूति का कभी पुनर्भाव नहीं होता कि सुन्दर बाह्य कलाकृति की सहायता से भाविक भी वही सहजानुभूति अनुभव करता है, जो कलाकार की सहजानुभूति होती है। कला संवेदन मात्र नहीं होती। संवदेन और अनुभव तो बाह्य जीवन के अंग हैं और वे तब तक कला का रूप धारण नहीं करते जब तक कलाकार उनसे निर्लिप्त हो कल्पना ही सहायता से उनका पुनर्निर्माण नहीं कर लेता। वस्तुतः संवदेनों के इसी अवलोकन, पुनः रचना तथा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में कलाकार को आनन्द की उपलब्धि होती है। जब वह 'कला' शब्द का प्रयोग उस अर्थ में नहीं करता जो सर्वगृहीत तथा सर्वमान्य है।

अभिव्यंजना पर अधिक बल देने के कारण कुछ लोगों ने यह समझ लिया कि क्रोचे विषय-वस्तु के चुनाव को आवश्यक नहीं मानता था और उसकी दृष्टि में कोई भी विषय, चाहे वह कितना ही निकृष्ट या हीन क्यों न हो, कला का विषय बन सकता है बशर्ते कि उसकी अभिव्यंजना सफल हो और स्पष्ट हो। बाह्य कलाकृति के निर्माण को विशुद्ध कला प्रक्रिया नहीं मानता, उसे विशुद्ध करना निम्न तथा हीन भी कहता है, क्योंकि कला अपने शुद्ध रूप में उपयोगिता या नैतिकता या व्यावहारिक मूल्यों से स्वतन्त्र होती है, अब कोई कलाकार बाह्य कला-कृति का निर्माण करें, तो उसका आदर्श है कि वह नीति तथा सदाचार के नियमों का पालन करें यह काव्य को कवि के पूर्ण व्यक्तिव्य की सृष्टि मानता है। क्रोचे ने अपने सिद्धान्त में जीवन के प्रति अपेक्षा प्रकट की है, उसने कलाकार के मस्तिष्क मे विचरण करने वाले अरूप, अस्पष्ट अर्थहीन प्रभावों की आन्तग्रिकता को कला कहा है, पर ये प्रभाव अन्वित होने से पूर्व, जीवन से सम्बन्ध होने से पूर्व कैसे होते हैं, कोई नहीं बता सकता। वस्तुतः कला और जीवन का अटूट सम्बन्ध है, कलाकार को जीवन को वास्ताविकता पर ही कला का निर्माण करना पड़ता है। जीवन और मानव-स्वभाव के मूलभूत तत्वों, संवेगों और अनुभवों को ही कलाकृति में स्थान देकर कलाकार अपनी रचना को निवेदनीय बना पाता है।

यह ठीक है कि साहित्यकार या कलाकार फोटोग्राफर की तरह जीवन को इसके नैरन्तर्य में, मानव को उसकी सार्वभौतिकता में चित्रित करता है। पर उसका विषय जीवन ही होता है। यह सच है कि कलाकार की पद्धति सहजज्ञान की पद्धति है, बौद्धिक तर्क की नहीं, फिर भी उसका सहज-ज्ञान जीवन और उसकी प्रक्रिया से परिचित होता है। अतः कलाकार जीवन की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसी प्रकार चूंकि निवेदनीयता कलाकार के लिए आवश्यक है, उसे अपनी अभिव्यजंना निवेदनीय बनानी पड़ेगी। अपने जीवननुभवों को दूसरों के लिए संवेद्य बनाने के लिए, न केवल यह आवश्यक है कि वे जीवनामुख सारी मानव-जाति के जीवनामुख हों, अपितु यह भी आवश्यक है कि उनके निवेदन की भाषा सहज बोधगम्य हो। अतः कला-अभिव्यंजना अवश्य है पर प्रथम तो वह जीवन् की अभिव्यंजना है, जीवन के उस रूप की अभिव्यंजना है जिसे कलाकार ने स्वयं देखा और अनुभव किया है।

बोध प्रश्न

1. संस्कृत काव्य शास्त्र में कुन्तक किस सम्प्रदाय के प्रवर्तक है।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

NOTES

2. कलाकार किसकी सहायता से सत्य को देखता है।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

सारांश

कुन्तक संस्कृत काव्य शास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते है। परन्तु इस पर क्रोचे के विस्तार से विचार से विमर्श किया। अर्थ और शब्द की वक्रोक्ति का नाम है अलंकार है। अतिशयोक्ति अलंकार के रूप में प्रतिष्ठित है। क्रोचे का जन्म स्वच्छन्दतावादी युग में हुआ था। उस समय कहा जाता था कि बच्चों को चित्रकार बनाने के लिए चित्रकला की शिक्षा न दें अन्यथा बच्चे के कोमल मन पर दूसरों के विचार बैठ जाते हैं। ऐसे में वह स्वतन्त्र अभिव्यंजनाद नहीं कर पाता। क्रोचे मूल रूप से आत्वादी दार्शनिक थे उनके अनुसार आत्मा की मूलत: दो क्रियाएं होती है– सैद्धान्तिक एवं व्यवहारात्मक। कला एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है यह कलाकार को स्वच्छन्दता देता है जो अन्ययस्था में परिणित हो सकती है। काव्य में जीवन और मानव स्वभाव के आधार भूत तत्वों, संवेंगो और अनुभवों को स्थान देने से कलाकार की रचना ग्राहय बन जाती है।

खंड

8

प्रतीकवाद

पाठ का प्रारूप

8.1 उद्देश्य
8.2 भूमिका
8.3 प्रतीकवाद
8.4 स्वरूप विवेचना व्याख्या
8.5 प्रतीक-वर्गीकरण
8.6 प्रतीक की महत्ता
❑ बोध प्रश्न
❑ सारांश

8.1 उद्देश्य

इस खंड के अध्ययन के पश्चात्-विद्यार्थी योग्य होगें-

- प्रतीकवाद को समझने में।
- प्रतीक-वर्गीकरण को समझने में।
- प्रतीक की महत्ता को समझने में।
- स्वरूप विवेचना की व्याख्या को समझने में।

8.2 भूमिका

आदिकाल से ही मनुष्य अपनी श्रेष्ठता सिद्ध होने के लिए प्रयासरत रहा है। इसके लिए वह अनेक साधानों का अवलम्बन लेता है। उनमें एक साधन प्रतीक भी है। इसका सामान्य अर्थ है– अंग, पता, चिह्न आदि। मनुष्य कभी-कभी देवता तो कभी प्रकृति के माध्यम के प्रतीक गढ़ता है।

8.3 प्रतीकवाद

मनुष्य की यही विशेषता उसे अन्य प्राणियों से पृथक् हीं नहीं करती, वरन् मनुष्य का आसन श्रेष्ठ और ऊँचा भी बनाती है आदिकाल से मनुष्य अपनी भावाभिव्यक्ति को सबल और प्रभावशाली बनाने के लिए उन साधनों की खोज करता रहा है जो उसे इस दिशा में सहयोग प्रदान कर सकें। 'प्रतीक' भी उन साधनों में से एक है।

NOTES

फ्रांस ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में (1886) ई. तथा इंग्लैण्ड में बीसवी सदी के आरंभिक दशकों में ही प्रतीकवाद प्रतिष्ठा हुई और तभी उसे महत्व प्राप्त हुआ। पो, मलार्मे तथा रिम्बां का मुख्य ध्येय प्रत्ययों को इन्द्रिय ग्राह्य बनाना था। कला किसी न किसी अर्थ में सदा प्रतीकात्मक रही है। प्रतीक उतने ही पुराने हैं जितनी मानव जाति। प्लोटानस के युग में भी कला की अवधारणा प्रतीकात्मक रूप में की जाती थी। जर्मन विद्वान् श्लेगल ने कहा था कि कला का सार प्रतीकात्मक है। तदुरात्मक इंग्लैण्ड के कर्लाइल और जर्मनी के गेटे ने भी कला के प्रतीकात्मक होने की अवधारणा का प्रचार किया था।

प्रकृतिवाद तथा वैज्ञानिक यथार्थवादी के विरुद्ध एक दार्शनिक और कलात्मक प्रतिरोध था, प्रकृति में श्रद्धा की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न एक कलात्मक आन्दोलन था। प्रतीकवाद सौन्दर्यन्मुख था क्योंकि प्रतीकवादी कलाकार 'Ideal Beauty" में विश्वास रखता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में अन्तिम चरण में आध्यात्मिक मूल्यों को अमूर्त प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया, प्राकृतिक पदार्थों को प्रतीकात्मक अर्थ दिया गया। उनका मत है कि व्यक्ति के लिए यह कठिन कार्य है कि वह अपने संवेग और संवदेन को सामान्य भाषा में ठीक तरह व्यक्त करे। वह अपनी अनुभूति की विशिष्टता के अनुरूप अभिव्यक्ति की तलाश में प्रतीकों का निर्माण करता है क्योंकि प्रतीक के असीम व्यजंनात्मकता निहित रहती है। प्रतीक पूर्ण साक्ष्य के कारण नहीं, अपितु धुंधली व्यंजना, आकस्मिक अथवा रूढ़िगत सम्बन्ध के कारण किसी दूसरी वस्तु को संकेतिक या सूचित करता है। सौन्दर्यशास्त्र में प्रतीक अपने प्रत्यक्ष आशय के अतिरिक्त किसी अन्य अर्थ की व्यजंना करता है, विशेषत: उस आदर्श विषय की जिसे वह पूर्णत: आत्मसात नहीं कर सकता। कुछ वस्तुओं में प्रतीकात्मकता प्राकृतिक होती है, जैसे प्रकाश को सत्य या ज्ञान का प्रतीक समझा जाता है और कुछ भी पारस्परिक जैसे यूरोप में क्रॉस को या भारत में दधीचि को बलिदान का प्रतीक माना जाता है। उनकी धारणा है कि प्रतीकों का निर्माण मनुष्य की मौलिक विशेषता रही है और मानव की आत्मचेतना के विकास में प्रतीकों को महत्वपूर्ण योगदान रहा है। चेतना जगत् तथा पदार्थ-जगत् के ध्रुवों (pole opposites) का सामना करना पड़ता है। यह कार्य वह प्रतीकों की सहायता से करता है। प्रतीक उसके लिए मध्यस्थ साधन हैं, वह भौतिक और आध्यात्मिक ज़गत को मिलाने वाली कड़ी हैं। इस वर्ग का प्रथम प्रतिनिधि था बौदलौर और सिरमौर या मलार्मे (1842–98) ई. इंग्लैंड में यीट्स का वही स्थान है जो बौदलैंर का फ्रांस में। इन प्रतीकवादी कवियों का विश्वास है कि घटनाएं या व्यक्ति अपने आप में क्षुद्र क्षणिक और महत्वहीन हैं। वे कला के उपयुक्त एवं योग्य विषय तभी बन सकते हैं जब उन्हें शाश्वत सत्यों (eternal truths) के प्रतीक रूप में दिखाया जाए। उनके अनुसार केवल प्रतीकवादी कलाकार ही अपनी कल्पना द्वारा क्षुद्र दैनिक वस्तुओं में महानता के दर्शन करा सकता है और उनमें स्वर्गिक रूप का भावन करा सकता है। बौदलैंर ने कहा कलाकर को प्रकृति के अनुकरण से ही सन्तोष नहीं कर लेना चाहिए, उसे बिम्बों को चयन करना चाहिए और अपनी बातें कहने के लिए उन्हें प्रखरता प्रदान कर उनका उपयोग करना चाहिए। मलार्मे के अनुसार, शब्दों का कार्य है अगम्य की व्यंजना करना और वे यह कार्य तभी कर सकते हैं। जब उन्हें अपने सामान्य अर्थ से मुक्त कर दिया जाए, परिचित सन्दर्भों से अलग कर दिया जाए; तभी वे व्यंजनाएं उद्‌बुद्ध कर सकते हैं, दिवास्वप्न जगा सकते हैं जो साधारणत: अभिव्यक्ति में नहीं बंधती यही तो प्रतीकवादी कलाकार की कला का वैशष्ट्य है। उसके लिए सामान्य जीवन और जीवन के पदार्थ प्रतीक बन जाते हैं तथा पाठक के लिए उसकी कविता एक रहस्य बन जाती है जिसकी कुंजी खोजनी पड़ती है। इंग्लैण्ड में प्रतीकवाद का प्रमुख प्रतिनिधि डब्ल्यू. बी. यीट्स है। वह अपनी कतिपय निश्चित धाराणाओं को लेकर काव्य के क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ। इन धाराणाओं को व्यक्त करने के लिए उसे प्रतीक ही एकमात्र उपयुक्त माध्यम लगा। हमारे युग में चिन्तन वैज्ञानिक

उपयोगितावादी और समाजवादी हो गया है, आत्मा विभक्त हो गयी है, जिसमें सभ्यता ह्रास्नोन्मुख हो उठी है। आत्मा के इस विभाजन (Schim in the soul) को व्यक्त करने के लिए और साथ ही उस पर विजय पाने तथा आध्यामित्मक एकीकरण के लिए एक नये प्रकार की कविता की अपेक्षा है। यीट्स ने जीवन कला और सभ्यता का एक नया दर्शन प्रस्तुत किया और प्रतीक के माध्यम से कल्पना के धरातल पर जीवन की सर्वांडीग एकता की पुनप्रतिष्ठा की। उसने साहित्यिक प्रतिकवाद द्वारा जीवन के गम्भीर अर्थ की व्यंजना की वर्तमान विभाजन और विखंडन के बीच एकता की भावना लाने का प्रयास किया।

वर्तमान कवियों और पुराणपंथी धार्मिक कवियों के सिद्धांतों में बहुत-कुछ साम्य है। दान्ते ने मसीही धर्म के अर्न्तगत स्वर्ग और नरक के स्वीकृत प्रतीकों द्वारा अपने बिम्ब का निर्माण किया। वर्तमान युग में फ्रांसीसी कवि मलार्मे ने भी अपने काव्य में प्रतीकों को प्रयोग से आदर्श सौन्दर्य को बांधने का प्रयास किया। अत: उनकी रचनाओं में प्राय: प्रत्येक शब्द प्रतीक है जो इन्द्रियाजीत यथार्थ के संसर्ग (associations) को जानने के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अन्तर केवल इतना है कि जहां अधिकांश आरम्भिक प्रतीकवादी कवि धार्मिकता के तथ्यों में उलझे हुए, वहां मलार्मे आदि आधुनिक प्रतीकवादी कवियों का सम्बन्ध विशेष रसात्मक अनुभूति से रहा। मलार्मे इस विशिष्ट रसात्मक अनुभूति की व्याख्या करता है।

उनका कथन है कि जो आनन्द भक्त को प्रार्थना और ध्यान के माध्यम से प्राप्त होता होगा, वही प्रतीकवादी कलाकार को शिल्प के माध्यम से होता है क्योंकि जिस प्रकार साधन ध्यान के साध्य के एकतान हो जाता है, उसी प्रकार रसात्मक मनोदशा के क्षणों में कलाकार के लिए देश-काल, आत्म और अनात्म, सुख और दु:ख के सारे भेद मिट जाते हैं। प्रतीकवादियों प्रधानत: प्रतीकों की वैयक्तिकता के कारण है। प्राचीन प्रतीक सामान्य आसंगों अत: सामाजिक अनुभूतियों पर निर्भर होते थे। उनका साधरणीकरण सुलभ था; पर आज के प्रतीकवादियों के प्रतीक वैयक्तिक, आसंग, व्यक्तिगत रुचि और अप्रकट मनोग्रन्थियों पर निर्भर हैं, अत: विशिष्ट और अनबूझ होते हैं।

प्रतीकवादी काव्य में प्रतीकों के द्वारा सूक्ष्म अर्थ की व्यजंना की जाती है, साथ ही उसमें शब्द और संगीत एक हो जाते हैं। बौदलेर ने लिखा है, "कविता छंद के द्वारा संगीत से समन्वित होती है। प्रतीकवादी कविता व्याख्या के विरुद्ध है। वह ओजस्वी भाषण, मिथ्या संवदेना और वस्तुगत वर्णन की शत्रु है। वह तो गोचर रूप में परिवतृत्त करने की चेष्टा करती है। उसमें प्रकृति के चित्र मनुष्यों के कर्म मूर्त व्याप्त है, सान्त को अनन्त के साथ जोड़ता है।

प्रतीकवादियों की शक्ति आदर्श के प्रति उनकी लगन में निहित है। उनका संसार सीमित होते हुए भी समृद्ध है इस काव्य में ईमानदारी थी, वह भावना को उत्तेजित भी करता था। उसमें रूढ़ अलंकार शास्त्र या क्षुद्र नैतिकता नहीं थी। सौन्दर्य के अतिरिक्त उसका कोई और साध्य न था। उसके अभ्युदय की क्रान्ति के रूप में स्वागत हुआ और शीघ्र ही लोकप्रिय हो उठा। इस लोकप्रियता का कारण यह था कि उसने काव्य में कवि के अन्तरंग को और कला में संगीत तत्व को महत्व दिया था।

परन्तु हमें प्रतीकवादियों के दोषों की ओर से आंखें नहीं मूंद लेनी चाहिए। उन्होंने नये प्रतीकों का प्रयोग किया है, उन्होंने अनुभव के वैविध्यपूर्ण क्षेत्र को ग्रहण किया है, अत: उनमें से अनेक दुर्बोध है और कवि के निकट उनका जो अर्थ था जो पाठक नहीं समझ पाते। इनके काव्य में सार्वजनिक विषयों की वर्जना है। प्रतीकवादी के लिए राजनीतिक विषय अप्रिय और अनात्मीय विषय हैं। यह यर्थाथवादी था वैज्ञानिक दृष्टि का भी विरोधी है। साधारण भावनाओं से स्वयं को विच्छिन्न कर उसने अपने आपको जीवन के एक

विस्तृत भाग से अलग कर लिया, अतः उसकी रचना कुछ सुसंस्कृत लोगों के लिए ही रह गयी। इस दृष्टिकोण ने कविता और साधारण जीवन के बीच एक दीवार खींच दी।

NOTES

8.4 स्वरूप विवेचना व्याख्या

'प्रतीक' शब्द का सामान्य अर्थ है अवयव, अंग, पता, चिह्न, निशान और कभी-कभी संकेत भी; किन्तु साहित्य में अथवा काव्य में इसका प्रयोग कुछ विशिष्ट अर्थ में ही होता है। इस विशिष्ट अर्थ को ही आधार मानकर हिन्दी के अनेक विद्वानों ने इस शब्द की परिभाषाएँ की हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं–

1. किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर जिस प्रकार अनेक स्वरूप और उसकी विभूति की भावना चट मन में आ जाती है, उसी प्रकार काव्य में आई हुई कुछ वस्तुएँ विशेष मनोविकरों या भावनाओं को जागृत कर देती है। जैसे 'कमल' माधुर्यपूर्ण कोमल सौन्दर्य की भावना जागृत करता है। 'कुमुदिनी' शुभ्र हास की' 'चन्द्र' मृदुल आभा की, 'समुद्र' प्राचुर्य विस्तार और गम्भीरता की, 'आकाश सूक्ष्मता और अनन्तता की, इसी प्रकार 'सर्प' से क्रूरता और कुटिलता का अग्नि से तेज और क्रोध का, 'वाणी' से विद्या का, 'चातक' से निः स्वार्थ प्रेम का संकेत मिलता है।

2. 'प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है– चिह्न। प्रकृति के विभिन्न उपादानों, स्वरूपों के साथ नैत्यिक परिचय के कारण हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यह सम्बन्ध जब तक हृदयस्थ रहता है, तब तक इसकी अमूर्तावस्था रहती है, किन्तु जब हम प्रकृति के पदार्थों का प्रयोग अपनी भावाभिव्यक्ति के साथ करते हैं तब उस रागात्मक सम्बन्ध का मानो मूर्तिकरण कर देते हैं। यथा, सुमनों का सौरभ दान देखकर हमारे हृदय में एक प्रकार का विशिष्ट आन्दोलन उत्पन्न होता है। संस्कारवशात् इस क्रिया के प्रति हमारा हृदयस्थ राग तन्मयत्व प्राप्त कर लेता है। यह तन्मयता उस समय विशेष सजग हो उठती है जब किसी उदार वृत्ति का चित्रण करते हैं और उदारता, त्याग आदि सद्वृत्तियाँ का प्रभावोत्पादक चित्रण करने के लिए सुरभिदान में लीन सुमनों को प्रतीक रूप में उपस्थित करते हैं। शब्दों के इसी प्रकार के प्रयोग का नाम प्रतीक स्थापन है।

   इस परिभाषा से स्पष्ट है कि शब्दों की विशिष्ट योजना ही प्रतीक का विधान करती है और उसकी परिभाषा भी गढ़ती है।

3. प्रतीक का अर्थ होता है प्रतिरूप या प्रतिमा अथवा वह वस्तु या भाव जो अंश होकर भी समग्र के लिए व्यवहृत हो।' **–डॉ. राजाराम रस्तोगी**

प्रतीक की परिभाषा से स्पष्ट है कि इसमें संकेतात्मक अर्थ निहित होता है। इसलिए यहाँ पर यह शंका सहज ही उत्पन्न हो जाती है कि फिर प्रतीक और संकेत में क्या अन्तर है?

संस्कृत-काव्यशास्त्र में संकेत का विवेचन अभिधा शब्दशक्ति के साथ हुआ है। और बताया गया है कि

संकेत वह शक्ति है जिससे अभिधेयार्थ का बोध होता है। अभिधेयार्थ का बोध किस प्रकार होता है इसके आठ कारण गए दिये हैं– व्याकरण उपनाम, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, प्रसिद्ध पद का सान्निध्य, वाक्शेष और विवृत्ति। संकेत के क्षेत्र का विवेचन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है–

'संकेतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च।'

अर्थात् व्याकरण आदि उपायों से जिस संकेत का ग्रहण हुआ करता है, उसके चतुर्विध क्षेत्र हैं– जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया।

प्रतीक और देश-काल

यह तो निर्विवाद है कि प्रतीक में कोई न कोई प्रतीकात्मक अर्थ भरा हुआ होता है और वह अर्थ देश और काल की परिस्थितियों में सम्बद्ध होती है। यही कारण है कि प्रत्येक देश में समान प्रतीकों के भिन्न-भिन्न अर्थ मिलते हैं। उदाहरण के लिए भारत और पाश्चात्य देशों में प्रचलित कुछ प्रतीकों को लिया जा सकता है। युरोप में शीत बहुत अधिक होता है, इसलिए यहाँ पर गर्मी को सुख; हर्ष उल्लास आदि का प्रतीक माना जाता है। इसके विपरीत भारत गर्म देश है, इसलिए यहां पर ग्रीष्म को दु:ख और व्याकुलता का प्रतीक माना गया है।

यहाँ की जलवायु में ग्रीष्मता और सुख और आनंद को देने वाली बात नहीं होती. वरन् दुखद होती है। भारत में श्रावण का मास सुखद माना जाता है।

प्रकृति का भी प्रतीकों के निर्माण में बहुत योग होता है। प्रत्येक देशवासी प्रकृति के विभिन्न रूपों को अपने ही दृष्टिकोण से देखता है। भारत में जल, शैली आदि यदि किसी सुख तथा उच्च भाव के प्रतीक हैं तो फारस में ये कष्ट तथा यातना के प्रतीक माने जाते हैं।

सभ्यता और संस्कृति का भी प्रतीक निर्माणों पर प्रभाव पड़ता है फारस निवासी को आबे जगजन, कोहनूर बुलबुल आदि से जिन अर्थों को बोध हो संकता है, वह भारत अथवा किसी अन्य देश के निवासी को नहीं हो सकता। इस प्रकार गंगा-जल मानसरोवर, कामधेनु, काल्पवृक्ष चिंतामणि आदि शब्दों से जो भावपरक अर्थ भारत के निवासी प्राप्त करते है वे अर्थ और किसी देश के निवासियों को अनुभूत नहीं हो सकते। इसी प्रकार धार्मिक परम्पराओं से भी प्रतीकों को जन्म मिलता है। भारतीय साहित्य में शंक, चक्र, गंदा, पद्म आदि विष्णु के नांदी., त्रिशूल, नवचन्द्र आदि शिव के हंस, ब्रह्म, सरस्वती एवं जीवन्मुक्तता के प्रतीक है। भारत की भांति युरोप वालों के अपने प्रतीक है उनके यहाँ कब्रों पर लगाये गये गुलाब तथा फूलने वाले अन्य वृक्ष स्वर्ग के बारहसिंगा आत्मा का जहाज धर्मसंघ का मोर अमरता का फोनिक्स पुनरुज्जीवन का तथा सांप शैतान का प्रतीक है। किसी देश की राष्ट्रीयता एवं ऐतिहासिकता परिस्थितियों के प्रभाव के कारण भी प्रतीकों में अन्तर आ जाता है। भारत के कंस, रावण शिशुपाल आदि अत्याचारी व्यक्ति के सीता, द्रौपदी, अनुसूया, दमयंती आदि पतिव्रत धर्म के और जयचंद्र, जाफर आदि देश-विद्रोह की भावना क प्रतीक हैं। इसी प्रकार सांस्कृतिक प्रतीकों का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है।

काल का भी प्रतीकों के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। समय के साथ-साथ कुछ प्रतीकों का महत्व

घट जाता है और कुछ नये प्रतीकों का जन्म हो जाता है।

NOTES

8.5 प्रतीक-वर्गीकरण

प्रतीकों का क्षेत्र विशाल है। जीवन और जगत् के प्रत्येक पक्ष में अनेक प्रतीकों का जन्म हुआ है। इसका कोई निश्चित वर्गीकरण करना सम्भव नहीं है। इसीलिए विभिन्न विद्वानों ने इनके विभिन्न वर्गीकरण किये हैं जिनमें ये अरबन, यीट्स, रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल आदि के वर्गीकरण उल्लेखीय है।

अरबन ने प्रतीकों के तीन वर्ग किये हैं– परम्परामुक्त या स्वच्छन्द प्रतीक, वास्तविक या व्याख्यापरक प्रतीक और अन्तर्दृष्टिपरक प्रतीक। इन वर्गों का परिचय देते हुए इन्होंने लिखा है कि प्रथम वर्ग के प्रतीक सरल और सुबोध है। इसमें कला और विज्ञान दोनों क्षेत्रों के बहुत से प्रतीकों का अन्तर्भाव हो जाता है। ऐसे प्रतीकों की उत्पत्ति अनेक प्रकार से होती है; जिसका उनके स्वाभाविक व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसे प्रतीक केवल मूल वस्तुओं के साथ अपने साहचर्य के कारण ही ग्रहण किये जाते हैं। कुछ ऐसे भी वास्तविक प्रतीक में प्रचलित बहुत से प्रतीक इसी प्रकार के है। सम्बन्ध सूत्र की स्थापना करना ही उन का विशेष कार्य हैं; प्रतीक-रूप में वर्ण्य वस्तु के साथ इसका आन्तरिक सम्बन्ध रहता है। नैतिक गुणों के प्रतीक वास्ताविक प्रतीक हैं। जैसे– सिंह साहस का प्रतीक है। एक तो ध्वनि-प्रतीक है और दूसरे विचारमूलक। प्रथम श्रेणी के अर्न्तगत भावपरक प्रतीक आते हैं। सभी रूप, रंग और ध्वनि या तो अपनी पूर्व निश्चित सांकेतिक शक्ति के कारण अथवा अपने साहचर्य के कारण उन समुचित अनुभूतियों को जन्म देते हैं जिनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। अथवा वह हमारे भीतर कुछ सूक्ष्म शक्तियों को जागृत करते हैं। जिनका सम्बन्ध हमारे हृदय से सीधा होता है। कुछ प्रतीक बौद्धिक भी होते हैं। ये प्रतीक केवल विचारों को ही उत्पन्न करते हैं, या कभी-कभी उनके साथ किसी भाव का भी संसार हो जाता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतीकों का वर्गीकरण करते हुए लिखा है ''प्रतीक दो प्रकार के होते हैं, कुछ तो मनोविकारों या भावों को जगाते है और कुछ भावनाओं या विचारों को। भावना या कल्पना जगाने वाले प्रतीकों के साथ भाव या मनोविकार भी प्रायः लगे रहते हैं।'' निश्चय की काव्य में दोनों का समान महत्व रहता है।

8.6 प्रतीक की महत्ता

प्रतीक के विशाल एवं व्यापक क्षेत्र को देखकर यह कह सकते हैं कि इसकी महत्ता भी उतनी ही व्यापक है। प्रतीकों का प्रसार भाषा, साहित्य, कला, धर्म, दर्शन और जहाँ तक कि मानव के नित्य-प्रति के जीवन की गतिविधियाँ पहुँच सकती हैं वहाँ तक है, पहले मनुष्य प्रतीकों के माध्यम से ही अपने भावों को व्यक्त किया करते थे। आध्यात्मिक और साहित्यक क्षेत्रों में तो प्रतीकों का महत्त्व स्पष्ट है। आध्यामिकता के विवेचकों ने अव्यक्त एवं परम रहस्यमय अगोचर ब्रह्म को तथा उसके साथ तदाकार के चरम आनन्दातिरेक को प्रतीकों के द्वारा ही व्यक्त किया है। रहस्यमयी भावनाओं का आधिक्य होने के कारण ही छायावादी काव्यों में प्रतीकों

की प्रधानता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में– ''जब साधक के हृदय देश में ईश्वर की भेजी हुई ज्योति की किरण झलक की तरह क्षण-मात्र के लिए आती है, तब या तो उस परम तेज की चकाचौंध कम करने के लिए अथवा उसके द्वारा प्रकाशित ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने के योग्य बनाने के लिए, उसके प्रेषित ज्ञान या तथ्य को व्यंजित करने के लिए उपयुक्त पार्थिक जगत का कुछ अनूठा रूप-विधान रूपक सामने आ जाता है।

काव्य में प्रतीकों का प्रयोग प्राय: दो कारणों से किया जाता है भावाभिव्यक्ति को सबल बनाने के लिए और सौन्दर्य विधान के लिए।

सौन्दर्य काव्य के लिए कवि प्रतीकों का प्रयोग करता है। इसका एक उदाहरण देखे–

बाल रजनी सी अलक थी डोलती,

भ्रमित हो राशि के बदन के बीच में।

यहाँ पर बाला के मुख के लिए 'राशि' प्रतीक का प्रयोग हुआ है। राशि का सौन्दर्य तो अपूर्व होता ही है, साथ ही उसमें शीतलत्व, आह्लदकत्व आदि गुण भी होते हैं।

बोध प्रश्न

1. मानव प्रतीक का प्रयोग क्यों करता है?

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रतीक के कौन से भेद बताये हैं।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

सारांश

सृष्टि काल में ही मनुष्य अपने को श्रेष्ठ अंकित करने के प्रयास में प्रतीकों का सहारा लेता आ रहा है। इसका सामान्यत: अर्थ है– अवयव, अंग, पता, चिह्न आदि। किन्तु साहित्य में इसका विशेष रूप से प्रयोग होता है। किसी देवता का प्रतीक सामने आने पर उसकी विभूति की भावना मन में आ जाती है। उसकी काव्य में आई कुछ वस्तुएं विशेष मनोविकारों को जागृत कर देती है। प्रतीक और संकेत में भेद होता है। संस्कृत काव्य शास्त्र में इसका विवेचन अभिधा शक्ति के साथ हुआ है। इसके बोध के आठ कारण होते हैं– 1. व्याकरण 2. उपमान, 3. कोश, 4. आप्तवाक्य, 5. व्यवहार 6. प्रसिद्ध पद का सन्निध 7. वाक्शेष एवं, 8. विवृत्ति।

NOTES

खंड

9

बिम्बवाद

पाठ का प्रारूप

9.1 उद्देश्य
9.2 भूमिका
9.3 बिम्बवाद का अर्थ व स्वरूप
9.4 बिम्ब का काव्य में महत्त्व
9.5 बिम्बों का वर्गीकरण
❑ बोध प्रश्न
❑ सारांश

9.1 उद्देश्य

इस खंड के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होगें-

- बिम्बवाद के अर्थ व स्वरूप को समझने में।
- बिम्ब के काव्य में महत्त्व को समझने में।
- बिम्बों के वर्गीकरण को समझने में।
- प्रतीक को समझने में।

9.2 भूमिका

छायावादी काव्य में कविता को सजाने के लिए बिम्ब का प्रयोग खूब हुआ है। इसका काव्य आशय है– किसी पदार्थ को मूल रूप देना, चित्रबद्ध करना। यह एक प्रकार का निर्मित ऐन्द्रियें चिह्न है।

9.3 बिम्बवाद का अर्थ व स्वरूप

छायावादी काव्य शिल्प में कविता के अलंकरण के लिए जिन उपकरणों का मुख्यत: प्रयोग हुआ है, वे बिम्ब धर्मी हैं। बिम्ब अंग्रेजी के Image शब्द का हिन्दी रूपान्तर है जिसका अर्थ है किसी पदार्थ को मूर्त्त रूप प्रदान करना, चित्रबद्ध करना, ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी में बिम्ब की परिभाषा इस प्रकार की गई है– "एक

पदार्थ के लिए ऐसे मूर्त या अमूर्त पदार्थ का प्रयोग जो उसके अत्यधिक समान हो अथवा उसे व्यंजित करता हो।'' बिम्ब एक प्रकार का शब्द-चित्र होता है पर उसमें रंग और रेखाओं के अतिरिक्त भाव का रहना भी आवश्यक है; बिम्ब भले ही वह कितना ही सुन्दर क्यों न हो, जब तक भावोद्रेक करने में अक्षम है, सफल नहीं कहा जा सकता; भाव जगाना उसकी अनिवार्य प्रक्रिया एवं आवश्यकता है। डॉ. नगेन्द्र लिखते हैं– ''काव्य-बिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।''

सारांश यह है कि बिम्ब एक प्रकार का शब्द निर्मित ऐन्द्रिय चित्र है जो प्राय: विशेषण, रूपक, उपमा आदि पर आधारित होता है। Image (बिम्ब) शब्द का प्रयोग पश्चिम में मुख्यत: तीन सन्दर्भों में हुआ है। स्मृति का सम्बन्ध अन्तत: कल्पना से है। स्मृति और कल्पना दोनों के संयोजन से बिम्बोत्पादन की प्रक्रिया चलती है। यह एक वास्ताविकता और अनुभूत सत्य है कि स्मृत्तियाँ ही व्यक्ति के मन-मस्तिष्क में अनेक प्रकार के प्रकृत बिम्बों की अमूर्त योजना करती रहती हैं, जिनकी मूर्त योजना काव्यादि में हुआ करती है।

बिम्ब-निर्माण में पहली स्थिति है कवि और वर्ण्य वस्तु का तदाकार हो जाना। बिम्ब-विधान को काव्य का अलंकरण मात्र नहीं माना जाता, उसका अनिवार्य तत्व समझा जाता है, क्योंकि जब सामान्य भाषा कवि के भाव को सम्प्रेषित करने में असमर्थ रहती हैं, तो उसे बिम्बों का ही आश्रय लेना पड़ता है।

बिम्ब अंग्रेजी के 'Image' शब्द का हिन्दी रूपान्तर है उसका अर्थ है किसी पदार्थ को मूर्त रूप प्रदान करना, चित्रबद्ध करना, मानसी प्रतिकृति उतारना। बिम्ब एक प्रकार का भावगर्भित शब्द-चित्र है। वह केवल हमारी चक्षु-इन्द्रिय को ही तृप्त नहीं करता, अन्य इन्द्रियों की भूख भी मिटाता है।

बिम्ब-निर्माण में पहली स्थिति है, कवि और वर्ण्य-वस्तु का तदाकार हो जना, "The identification of the poet with objects which appeal to his senses is the initial step in image-making."

काव्य-बिम्ब का मुख्य कार्य संप्रेषणीयता है। वह कलाकार की अनुभूति और प्रमाता के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाला सूत्र है। वह विषय को स्पष्ट करता है, दृश्य भाव या व्यापार को समृद्ध बनाता है, कवि की अनुभूति को तीव्र बनाता है और पाठक में ऐसी संवदेना जगाता है जिसकी उपलब्धि नित्यप्रति के जीवन में नहीं होती। वह चित्रात्मक प्रतिरूप (pictorial representation) मात्र नहीं है वह क्षणमात्र में बौद्धिक और संवेगात्मक जटिलताओं और भावग्रन्थियों को हमारे सामने उपस्थित कर देता है।

इन कार्यों (functions) को सम्पन्न करने के लिए बिम्ब में प्रत्यग्रता, तीव्र घनता, उद्‌बोधनशीलता, ताजगी, विषयानुकूलता आदि गुण होने चाहिए। प्रत्याग्रता वह गुण है जो की प्रयोग, रंगन्यास, स्वर के आरोह-अवरोह या पद-लालित्य के सहारे बिम्ब में जीवन सत्य भरती है। तीव्र घनता से बिम्ब छोटे फलक पर अधिकतम अर्थवत्ता के केन्द्रीकरण की शक्ति अर्जित करता है, कम से कम शब्दों के द्वारा एक सघन और विराट अनुभूति को व्यक्त करता है। उद्‌बोधिकता (evocative power) वह शक्ति है जिसके द्वारा बिम्ब कृति के भावावेग के प्रति सहृदय के चित्त की प्रत्यर्थता को उद्‌बुद्ध कर सके।

केवल अलंकरण अब बिम्ब का कार्य नहीं रह गया है, अत: अभीष्ट प्रभाव डालने के लिए बिम्ब का विषय एवं काव्यरूप के अनुकूल होना भी जरूरी है।

बिम्बों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया गया है– अभिव्यंजना-पद्धति की दृष्टि से, स्वरूप की दृष्टि से, ग्राह्येन्द्रिय के आधार पर, प्रेरक अनुभूति के आधार पर, अर्थ की दृष्टि से। अभिव्यंजना-पद्धति की दृष्टि से बिम्बों के दो प्रकार बताए गए हैं। प्रत्यक्ष बिम्ब (Direct Image) और अलंकृत बिम्ब (Figurative Image) प्रत्यक्ष बिम्ब में कवि सामान्य परन्तु अर्थपूर्ण शब्दों द्वारा चित्र अंकित करता है। 'साकेत' पंक्ति 'विमाता' बन

NOTES

गई 'आँधी भयावह' में कैकेयी को आँधी बताकर रघुकुल पर उसके भयावह प्रभाव की ओर संकेत किया गया है। अलंकृत बिम्ब में कवि रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों द्वारा उसका विधान करता है। काव्य में अलंकृत या उपलक्षित का बहुत महत्व है क्योंकि यह उसका विधान करता है। काव्य में अलंकृत या उपलक्षित का बहुत महत्व है क्योंकि इनके माध्यम से सादृश्य विधान द्वारा कवि अपने घनीभूत भावों को अप्रस्तुतों में बाँधकर मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करता है। 'कामायनी' में लज्जा का चित्रण देखिए–

कोमल किसलय के अंचल में,

नन्हीं लतिका ज्यों छिपती-सी

गोधूली के धूमिल पट में,

दीपक के स्वर में दिपती-सी।।

स्वरूपगत विशिष्टताओं की दृष्टि से बिम्बों के भेद हैं– सरल, जटिल, तात्कालिक, अमूर्त अथवा इन सबके संयोग से निर्मित संयुक्त बिम्ब। कुछ लोगों ने बिम्बों के दो वर्ग किए हैं– स्थिर (static imagery) तथा गत्यात्मक (kinetic or dynamic imagery) एक अन्य वर्गीकरण है बंधनयुक्त (tied imagery) तथा स्वतंत्र या उन्मुक्त (free imagery)। प्रथम सब पाठकों में एक-समान भाव जाग्रत करता है; दूसरा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न भाव जागता है। प्रेरक अनुभूति के आधार पर बिम्बों के सरल, मिश्र, खण्डित और समालित भेद हैं, तो काव्यार्थ की दृष्टि से दो भेद-एकल और संश्लिष्ट-दिए गए हैं। ऐन्द्रियबोध के आधार पर भी दो वर्ग किये गए हैं जो मन को प्रभावित करते हैं, उन्हें सूक्ष्म संवेदनात्मक बिम्ब कहा गया है और जो स्थूल इन्द्रियों– नेत्र, कान, नासिका, त्वचा और रचना के विषय होते हैं, उन्हें स्थूल संवेदनात्मक बिम्ब कहा गया है। स्थूल संवेदनात्मक बिम्बों के भेद हैं– चाक्षुष, श्रावण, घ्राणक, स्पर्शिक, रासनिक, गतिबोधक, वेगोद्भेदक (किनेस्थेटिक)। जब कोई बिम्ब हमारी एक से अधिक इन्द्रियों को तृप्त करता है तो उसे संकुल अथवा मिश्र बिम्ब कहते हैं।

वेगोद्भेदक बिम्ब में तिग्म-ध्वनि गुण, त्वारा, विस्फोट और विघ्राट-सब कुछ एक साथ रहते हैं– 'राम की शक्तिपूजाद्व की निम्न व्यक्तियों में वेगोद्भेदक बिम्ब की सुन्दर योजना है–

शत घूर्णावर्त्त, तरंग-भंग उठते पहाड़

जल-राशि राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़

तोड़ना बन्ध- प्रतिबन्ध धरा, हो स्फीत वक्ष

दिग्विजी-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।

उसके अनुसार बिम्ब इनका सम्बन्ध मनुष्य के चिन्तन और संवेदन से है। ये बिम्ब रिक्थ-क्रम से पीढ़ी दर पीड़ी परिवार और समाज के दीर्घ आनुवांशिक संस्कारों से लिप्त होकर ले आते हैं। ये बड़े सशक्त होते हैं और हमारी सुप्त सांस्कृतिक वासनाओं को उभारते में बहुत समर्थ होते हैं। इनमें आशु साधानीकरण का गुण रहता है क्योंकि ये सामूहिक अवेचतन (collective unconsious) से उत्थित होते हैं। ये मूलतः जातीय अनुभूति, राष्ट्र की सांस्कृतिक वासना से निर्मित होते हैं। उदाहरण के लिए, मर्यादापालन की दृष्टि से राम, रसिकता की दृष्टि से कृष्ण, वीरता की दृष्टि से अभिमन्यु, शारीरिक बल की दृष्टि से भीम, त्याग-बलिदान की दृष्टि से दधीचि समग्र हिन्दू जाति के लिए ऐसे ही आदि-बिम्ब हैं।

(घ) प्रतीक

जब एक ही शब्द या अप्रस्तुत किसी सम्पूर्ण अर्थ सन्दर्भ को व्यंजित करने की शक्ति अर्जित कर लेता है, तब वह प्रतीक बन जाता है।

NOTES

प्राचीन काव्यशास्त्र की शब्दावली में इसे 'उपलक्षण' कहा जा सकता है। 'एकपदेन तदर्थान्यपदार्थ कथमुपलक्षणम्'। साइमन्स ने भी प्रतीक की परिभाषा इसी प्रकार की है, "A symbol might be defined as a representation which does not aim at being reproduction." प्रतीक में अर्थ उसी प्रकार छिपा रहता है जैसे तिल में तेल और उसका अर्थ प्राप्त करने के लिए उसे तिल की तरह पेलना पड़ता है। प्रतीक का सबसे बड़ा गुण है सन्दर्भ के प्रति उसकी सचेष्ट ईमानदारी। प्रतीक के इन्हीं गुणों के कारण प्रयोक्ता अपनी उन मूल्यावान अनुभूतियों को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त कर देता है जो व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं की जा सकतीं।

कलाकार स्वानुभूति के जिन अंशों को सामान्य अभिव्यक्ति के प्रचलित साधनों–शब्द, रेखा ध्वनि आदि–के द्वारा व्यक्त नहीं कर पाता, उन्हें वह प्रतीकों की सहायता से व्यक्त करता है। कवि का कर्त्तव्य है कि वह अपना व्यक्तित्व और अनुभूतियों की विशिष्टता के अनुरूप अभिव्यक्ति का विशेष मार्ग खोज निकाले। जिस कलाकार में जितनी अधिक सघन सहजानुभूति की क्षमता होगी, उतना ही वह उत्कृष्ट प्रतीकों की सृष्टि कर सकेगा। कला के प्रतीक सामान्यत: आश्रय की अनुभूति विशेष के व्यंजक होते हैं। उनमें सामान्य सादृश्य के साथ के कारण वह अनेक प्रकार के भाव तथा मानसिक चित्र उपस्थित करता है। प्रतीक का सम्पूर्ण अर्थ प्रकट नहीं किया जा सकता; सामान्य जनों के लिए तो प्रतीकात्मक कथन कुछ न कुछ अस्पष्ट बना देता है पर विज्ञों के लिए अपनी अनेकार्थकता (amibiguity) के कारण वह और भी मनोज्ञ को उठता है। उसमें प्रकाशन और गोपन का एकसाथ निर्वाह किया जाता है प्रतीक के नन्दतिक (aesthetic) मूल्य होता है प्रतीक कला की ऐसी इकाई है जो काभी महत्व रखती है; उसी केन्द्र से अर्थ कवि की ज्योति फुटकर सम्पूर्ण संदर्भ-वृत्त को आलोकित रखता है प्रतीक की अदृश्य सत्य को इन्द्रिय ग्राह्य रूप में सांकेतिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है कला जगत् के सूक्ष्म सौन्दर्य को व्यक्त करता है।

बिम्ब और प्रतीक– बिम्ब स्वत: संभवी होते हैं जबक प्रतीकों को निर्माण सचेष्ट किया है। प्रतीक-निर्माण में बुद्धि कर्ता के पद पर रहती है, जबकि बिम्ब का प्रमुख धर्म है ऐन्द्रियता। प्रतीक में सूक्ष्म अर्थ की प्रधानता रहती है, उसके सम्पूर्ण अर्थ की व्याख्या अन्य शब्दों में नहीं की जा सकती। बिम्ब का सीधा सम्बन्ध अभिव्यक्ति और मानस-पटल पर उभरने वाले चित्रों से है। बिम्ब द्वारा प्रेषित अर्थ सहजग्राह्य और सबके लिए एकसा होता है। इसके प्रतीक द्वारा प्रेषित अर्थ भिन्न-भिन्न पाठक अपनी-अपनी सूझ-बूझ शक्ति, शिक्षा-दीक्षा और योग्यता के अनुसार अलग-अलग ग्रहण करेंगे।

प्रतीक, उपमा और रूपक– उपमा, रूपक और प्रतीक का मुख्य अन्तर यह है कि उपमा में किसी वर्ण्य के उपमान को सादृश्य प्रतिपादन होता है, रूपक में उपमान का उपमेय का आरोप रहता है, जबकि प्रतीक में वर्ण्य के विविध सन्दर्भों या सम्बन्धों का व्यंजनाभी बोध रहता है अत: प्रतीक में अर्थ परिवृत्ति होती है, उसमें प्रस्तुत-अप्रस्तुत का विवक्षा पृथक-पृथक् नहीं की जाती। प्रतीक विधान गौणी लक्षणा का विषय है, प्रस्तुत वस्तु का बोध लक्षणा द्वारा होता है। रूपक के द्वारा की गयी अभिव्यक्ति अन्य प्रकार से भी संभव है, पर प्रतीक द्वारा जैसी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है, वैसी अन्य किसी प्रकार के संभव नहीं, "The symbol is the only possible embodiment of what it present, whereas in allegorical image, one of several possibilities is a substitute for what it presents." रूपक को समझने के लिए ज्ञान आवश्यक है, जबकि प्रतीक के भावन के लिए अन्त: प्रेरणा चाहिए। रूपक का सम्बन्ध ललित कल्पना (fancy) ये है जबकि

NOTES

प्रतीक कल्पना (Imagination) से उत्थित होता है। रूपक-विधान को देख पाठक चमत्कृत होता है, उससे विवोद को ऐच्छिक आरोप रहता है। एक अन्तर यह भी है कि जहाँ रूपक में अप्रस्तुत में प्रस्तुत का ऐच्छिक आरोप रहता है, वहाँ प्रतीक-रचना में अपेक्षाकृत कम परिचित अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यजंना की जाती है। अत: प्रतीक को विशिष्ट प्रकार का रूपक कहा जा सकता है। प्रतीकों के अनेक भेद किये गए हैं जैसे पारम्परिक प्रतीक, वैयक्तिक अर्थात् कवि द्वारा स्वयं निर्मित प्रतीक, नैसर्गिक प्रतीक जैसे पर्वत, सघन कान्तार, यात्रा-मार्ग आदि।

रूपक (Metaphor)

अरस्तू के समय मेटाफर को एक अलंकार (figure of speech) समझा जाता था जिसमें किसी वस्तु को दूसरी वस्तु पर आरोपित किया जाए। वह भारतीय काव्यशास्त्र के 'रूपक' अलंकार के समीप था, उसमें लाक्षणिकता के भी लक्षण देखने को मिलते हैं। आज मेटाफर केवल काव्य को अलंकृत करने का उपकरण नहीं माना जाता। शैले ने बहुत पहले कहा था कि भाषा अनिवार्य रूप से रूपकात्मक (metaphorical) है। मिडल्डन मरी कहता है कि मेटाकर वाणी जैसा मूलभूत है।

आई. ए. रिचर्ड्स ने मेटाफर को भाषा का सर्वव्यापी मूल तत्व कहा है। वह उसे सहज स्वाभाविक भाषा की व्यावहारिकता से अलग नहीं मानता। और कहता है कि विचारों की क्रियाशीलता का माध्यम मेटाफर ही है। इस प्रकार आधुनिक विद्वान् मेटाफर को भाषा की शक्ति बढ़ाने वाला, उसकी श्रीवृद्धि करने वाला, अलंकार मात्र न मानकर भाषा की शक्ति बढ़ाने वाला, रूप-विधान में अंगभूत मानते हैं।

आज कविता को तुलना द्वारा या अनेक भावों, विचारों और अनुभवों को मिलाकार विभिन्न आसंग (association) उद्‌गत करने वाला माना जाता है। बूल्हर ने इसीलिए योगसूत्र स्थापित करना है, असंगत वस्तुओं में सन्निधि लाना है, अत: आज मेटाफर काव्य-रचना में अनिवार्य तत्व माना जाता है। मेटाफर कभी ऐन्द्रिय संवगों (Objects of sensation) से सम्बद्ध पदार्थों द्वारा विशुद्ध बौद्धिक पदार्थों (Objects of intellection) का संकेत करता है; कभी महान् विराट विशाल वस्तुओं को सामान्य में रूपान्तरित कर देता है; कभी मेटाफर में उपमान और उपमेय को एक दूसरे से इस प्रकार प्रभावित दिखाया जाता है कि उनके पारस्परिक सम्बन्ध में एक तीसरे अर्थ की प्रतीति होने लगती है। कभी वह जड़ पदार्थों को चेतनासम्पन्न बना देता है, तो कभी चेतन सम्पन्न बना देता है, तो कभी चेतन पदार्थों को जड़। इस प्रकार रूपक (metaphor) के आधारभूत तत्व हैं– सादृश्य ऐन्द्रिय बिम्ब जो अतीन्द्रिय अगोचर को उद्‌घाटित करें, दोहरी दृष्टि (Double Vision) तथा सर्वात्मवादी प्रेक्षपण (animistic projection), ये चारों तत्तव एक साथ मेटाफर में एक मात्रा में वर्तमान नहीं रहते; उनका अनुपात अलग-अलग राष्ट्र और युग की कविताओं में बदलता रहता है, पर इनका थोड़ा-बहुत अस्तित्व सदा पाया जाता है।

रूपकों (metaphors) को प्रधानत: निम्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– (1) भाषागत स्थानान्तर वाले रूपक (Linguistic metaphor), जैसे कुर्सी की टांग, सुराही की गर्दन। अब इनका काव्यात्मक सौन्दर्य नष्ट हो गया है, अत: इन्हें घिसे-पिटे (faded or worn-out) रूपक भी कहते हैं। (2) रागात्मक प्रभाव उत्पन्न करने वाले रूपक (aesthetic or poetic methaphor) जो पदार्थ को एक नये आलोक से मंडित कर देते हैं, जैसे प्रसाद के रात्रि-वर्णन में प्रयुक्त रूपक–

पगली हां सम्हाल ले कैसे

छूट पड़ा तेरा अंचल

देख, बिखरती है मणिराजी

अरी उठा बेसुध चंचल

और (3) स्थिर, परम्परागत रूपक (fixed or ritual methphor) जैसे दंतमुक्ता (pearly teeth), बिम्बोष्ठ (ruby lips) सुनहली उषा आदि।

NOTES

रूपक विधान से कितनी ही नई बातों का पता चलता है– उससे कवि की रुचि, अध्ययन क्षेत्र तथा मनोविज्ञान (psyche) का पता चलता है। कभी-कभी वे आत्मा की मुक्त अभिव्यक्ति न होकर कवि के प्रयास और बौद्धिक व्यायाम का प्रतिफल होते हैं। रूपक-विधान सम्पूर्ण कृति के साहित्यिक मूल्य, उसकी अर्थवत्ता एवं केन्द्रीय विचार को समझने में भी सहायता देते हैं।

कभी-कभी बिम्ब को सादृश निर्भर मैटाफर बता उसे अलंकृत उक्ति मान लिया जाता है यह उचित नही। और रूपक (metaphor) में कुछ भेद सुनिश्चित है– बिम्ब अचेतन मन से उदित होने वाले प्रतीक हैं जब कि मैटाफर बिना किसी आयाम के अपने आप कवि के अन्तर (चेतन मन) में उदित होते हैं। बिम्ब-विधान में सादृश्य तर्क मूलक नहीं होता जबकि मैटाफर में वह तर्कमूलक होता है। जानी-पहचानी परिचित वस्तु के साथ उसी के सामन दूसरी वस्तु से समानता दिखायी जाती है ताकि पहली वस्तु को और अच्छी तरह समझा जा सके। वह दूरवर्ती दो वास्ताविकताओं को निकट लाने का प्रयास करता है।

प्राचीन समय में बिम्ब, प्रतीक, रूपक आदि को काव्य का बाह्य अलंकरण समझ उनका अध्ययन किया जाता था, उन्हें कृति से अलगाकर कृति की श्रीवृद्धि में उनके योगदान की दृष्टि से उनका मूल्यांकन किया जाता था। कृति का केन्द्रीय अर्थ उन बिम्बों, रूपकों एवं मिथकों में छिपा है जिनका प्रयोग उस में हुआ है और वे बाह्य अलंकरण मात्र न होकर कथ्य और रूप के एकसूत्र स्थापित करने वाले उपकरण, कृति के अभिन्न अंग एवं कवि के अचेतन को उद्घाटित करने वाले माध्यम हैं। उसे छन्द के समान काव्य-संरचना का अंगभूत तत्व माना जाता है।

9.4 बिम्ब का काव्य में महत्त्व

बिम्ब को सार्थक होने के लिए, प्रभावशाली बनने के लिए किन गुणों या तत्वों की अपेक्षा होती है। समय के साथ-साथ शब्द और बिम्बों की अर्थवत्ता, ध्वन्यात्मकता, चमत्कृत करने की शक्ति कम होती जाती है जिस प्रकार निरन्तर प्रयोग से मुद्रा की चमक कम होती जाती है। पुराने, रूढ़ उपमानों या बिम्बों से काम नहीं चलता। नवीन प्रेमी पाठक सदा नए बिम्ब चाहता है। उधर बदलता हुआ जीवन, जीवन के लिए सन्दर्भ सभ्यता का नूतन विकास, आचरण के नए रूप, विचार-जगत् में आने वाले नए तत्व भी माँग करते हैं कि नया बिम्ब-विधान कविता में आये, नवीवनता के लिए नवीनता या चमत्कार-सृष्टि मात्र के लिए नूतनता लाने का प्रयास करेगा, तो वह अजूबा तो पैदा कर सकेगा, भावोद्रेक करने में असमर्थ रहेगा।

बिम्ब में दूसरा अपेक्षित गुण है विषयानुकूलता। जब तक बिम्ब विषय के अनुकूल न होगा, कवि अभीष्ट प्रभाव डालने में असमर्थ ही रहेगा और तब तक केवल अलंकरण या चमत्कार के कारण उसकी उपयोगिता अमान्य ही रहेगी। इसीलिए भास्वरता (boldness) और सघनता से भी अधिक महत्व संगति (congruity) को दिया गया है सफल बिम्ब-योजना के लिए बिम्ब और विषय (theme) की

NOTES

संगति अनिवार्य है– बिम्ब कवि के मन में शनैः-शनैः विषय को उद्घाटित करते चलें और विषय बिम्बों का नियन्त्रण में रखे। अतः सच्चा कवि बड़ी सावधानी से बिम्ब का प्रयोग करता है।

बिम्ब के लिए ताजगी (Freshness), सघनता (Intensity) तथा पाठक में वैसी ही अनुभूति जागने की शक्ति, जैसी कवि की थी (Evocative power) भी आवश्यक माने गये हैं। ताजगी से हमारा अभिप्राय है कि बिम्ब भाषा, शैली और सामग्री की नवीनता द्वारा ऐसी वस्तु या भाव का उद्घाटन करे जिससे हम पहले परिचित नहीं हों। सघनता का अर्थ है अर्थवत्ता, कम से कम शब्दों द्वारा एक सघन और विराट अनुभूति को व्यक्त करना। साथ ही बिम्ब तभी पूर्ण सफल हो सकते हैं जब कवि का भाषा पर पूर्ण अधिकार हो; वह शब्द चयन में कुशल हो। सहज भाषा में अभिव्यक्ति किया गया है जो बिम्ब केवल अलंकरण के लिए, काव्य की बाह्य सजावट के लिए प्रयुक्त होते हैं।

9.5 बिम्बों का वर्गीकरण

बिम्बों का वर्गीकरण कितनी ही दृष्टियों से किया गया हो, जैसे अभिव्यंजना पद्धति की दृष्टि से, स्वरूप की दृष्टि से, ग्राहोद्वेक के आधार पर, प्रेरक अनुभूति के आधार पर, काव्यार्थ की दृष्टि से। अभिव्यजंना-पद्धति की दृष्टि से बिम्बों के दो प्रकार बताये गये हैं– प्रत्यक्ष बिम्ब (Direct image) और अलंकृत बिम्ब (Figurative image) प्रत्यक्ष बिम्ब में कवि सामान्य पर अर्थपूर्ण शब्दों द्वारा ही चित्र अंकित कर देता है साकेत में कवि ने राजा दशरथ के शान्तिपूर्ण जीवन में भयंकर हलचल मचाने वाली तथा सारे परिवार और राज्य का अस्त-व्यस्त करने वाली कैकेयी की मूर्ति आँधी शब्द के प्रयोग द्वारा अंकित कर दी है। अलंकृत बिम्ब में कवि रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा मानवीकरण आदि अलंकारों द्वारा इसका विधान करता है और कभी प्रतीकों द्वारा उसकी योजना करता है।

स्वरूपगत विशेषताओं की दृष्टि से बिम्बों में कई भेद हैं, जैसे सरल बिम्ब, जटिल बिम्ब, तात्कालिक बिम्ब, अर्मूत बिम्ब अथवा इन सबके संयोग से निर्मित संयुक्त बिम्ब। स्वरूप की दृष्टि से बिम्बों का दूसरा भेद है जिसके अर्न्तगत संक्षिप्त और सांकेतिक बिम्ब आते हैं तथा तीसरे भेद के अन्तर्गत प्रतीकात्मक, रूपकात्मक, अभिज्ञानात्मक बिम्ब रखे जाते हैं।

प्रेरक अनुभूति के आधार पर बिम्बों के सरल, मिश्र, खंडित और समाकलिक भेद किये गये हैं। ऐन्द्रिय बोध के आधार पर बिम्बों को दो भेद हैं– सूक्ष्म संवेदनात्मक बिम्ब जो मन के विषय होते हैं और मनन को प्रभावित करते हैं। दूसरा भेद है स्थूल संवेदनात्मक बिम्ब जो स्थूल इन्द्रियों– नेत्र, श्रवण, त्वचा, नासिका और रसना के विषय होते हैं। वह मुख्यतः एक इन्द्रिय से सम्बद्ध होते हुए भी दूसरी इन्द्रिय के बोध से पोषित होता है। ऐसे बिम्ब को संयुक्त बिम्ब कह सकते हैं।

बिम्ब-निर्माण के लिए कवि विभिन्न स्रोतों–मानव प्रकृति, मानवेतर प्रकृति, पौराणिक गाथाओं और प्रसंगों, सामाजिक जीवन, धार्मिक वातावरण आदि से सामग्री एकत्र करता है और उनके द्वारा संजीव बिम्ब-विधान कर अपने काव्य को कलापूर्ण एवं प्रभावशाली बनाता है। आज का समूचा काव्य तो विशिष्ट प्रकार के बिम्बों का ताना-बाना है ही, कहानी और नाटकों में भी कथ्य को उजागर करने के लिए प्रमुखतः बिम्बों का ही आश्रय ग्रहण किया जाता है।

बोध प्रश्न

1. बिम्ब का सामान्य अर्थ क्या है।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

2. बिम्ब का प्रयोग किस वाद के कवियों ने अधिक किया है?

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

सारांश

बिम्ब का प्रयोग छायावादी कवियों ने बहुत अधिक किया है इसके प्रयोग से काव्य अलंकृत हो जाता है। इसका सामान्य अर्थ है– मूर्त या अमूर्त पदार्थ का प्रयोग को जो बहुत अधिक समानता रखता है। यह एक तरह का शब्द चित्र होता है। बिम्ब एक प्रकार का शब्द निर्मित ऐन्द्रिय चित्र हैं। यह प्राय: विशेषण रूपक, उपमा आदि पर आधारित है। पाश्चात्य काव्य में इस पर प्रयोग तीन सन्दर्भों में होता है। अभिव्यंजना को दृष्टि से इसके दो भेद कहे गये हैं– प्रत्यक्ष बिम्ब और अलंकृत बिम्ब। बिम्ब को सार्थक बनाने के लिए गुण या तत्व अवश्य होने चाहिए। इसका प्रयोग सावधानी पूर्वक हो तो सही अर्थों में काव्य अलंकृत हो जाता है।

खंड

10

समीक्षा और आलोचना

पाठ का प्रारूप

10.1 उद्देश्य
10.2 भूमिका
10.3 आलोचना
10.4 आलोचक या भावक
10.5 आलोचक का भेद
10.6 आलोचक के आवश्यक गुण
10.7 आलोचना का ऐतिहासिक पक्ष
10.8 वैज्ञानिक आलोचना
10.9 तुलनात्मक ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली
10.10 आलोचना का मनोवैज्ञानिक पक्ष
10.11 सैद्धान्तिक आलोचना
10.12 स्त्रीवादी सौन्दर्य शास्त्रीय आलोचना
10.13 समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ
❑ बोध प्रश्न
❑ सारांश

10.1 उद्देश्य

इस खंड के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होगें-

- आलोचना, आलोचक या भावक और आलोचक के भेद को समझने में।
- आलोचक के आवश्यक गुण और आलोचना के ऐतिहासिक पक्ष को समझने में।
- वैज्ञानिक आलोचना को समझने में।
- तुलनात्मक ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली और आलोचना के मनोवैज्ञानिक पक्ष को समझने में।
- सैद्धान्तिक आलोचना, स्त्रीवादी सौन्दर्य शास्त्रीय आलोचना, समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ को समझने में।

10.2 भूमिका

आलोचना का समान्य अर्थ है– वस्तुओं के गुण दोषों की परख करना। आलोचक वही हो सकता है जिसमें ने भावयित्री प्रतिभा होती है। महाकवि मंगल ने आलोचक के दो भेद माने हैं– 1. अरोचकी, 2. सतृणायकारी इसके की भेदोय भेद होते हैं– सहृदयता, अन्तदृष्टि, निष्पक्षता आदि अलोचना के गुण होते हैं।

10.3 आलोचना

आलोचन का अर्थ वस्तुओं के गुण दोषों की परख करना है। चाहे वह परख साहित्य क्षेत्र में या ललित कला क्षेत्र में को गयी है। इसका स्वरूप निर्णय में समाहित रहता है।

10.4 आलोचक या भावक

जिस आलोचना की चर्चा की गई है, उसकी शक्ति सब में नहीं होती। इस सम्बन्ध में राजशेखर ने लिखा है कि सच्चा भावक या अलोचक वहीं हो सकता है जिसमें भावयित्री प्रतिभा होती है। वे लिखते हैं–

"अर्थात् भावयित्री प्रतिभा भावक या आलोक का उपकार करती है। अत: उसका नाम भावयित्री है। यह प्रतिभा कवि की कविता-लता को सफल बनाती है। इसके बिना कविता निष्फल रह जाती है।" यहाँ पर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। कवि श्रेष्ठ होता है या भावक या आलोचक। इस प्रश्न का निश्चित उत्तर राजशेखर ने दिया है। उन्होंने लिखा है– "प्रतिभा के तारतम्य से संसार में विविध प्रकार की प्रतिष्ठा होती है। भावक कवि कभी अधम दशा को प्राप्त नहीं होते। हाँ, भावक-प्रतिभा तथा कवि-प्रतिभा दोनों का एक में होना कठिन होता है।"

10.5 आलोचक का भेद

भावकों के भेदों के सम्बन्ध के विद्वानों में मतभेद हैं। महाकवि मंगल के मतानुसार भावक या अलोचक दो प्रकार के होते हैं – (1) अरोचकी तथा (2) सतृणाभ्यहारी। वामन के मत में कवि भी अरोचकी और सतृणाभ्यकारी होते हैं। राजशेखर के मत में भावक के चार प्रकार के होते हैं– अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्वाभिनिवेषी। अरोचकी समालोचक वे होते हैं, जिन्हें किसी की भी अच्छी से अच्छी रचना भी अच्छी नहीं लगती। सतृणाभ्यवहारी आलोचक वे होते हैं जो भली-बुरी सभी प्रकार की रचनाओं पर वाद-विवाद उठाते है। मत्सरी वे होते हैं जो ईर्ष्यावश किसी रचना को पसन्द नहीं करते और कुछ न कुछ दोष दर्शन कराने की चेष्टा करते हैं तथा तत्वाभिनिवेषी निष्पक्ष और सच्चे आलोचक होते हैं।

10.6 आलोचक के आवश्यक गुण

आलोचक के आवश्यक गुणों के सम्बन्ध में पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र में बहुत कुछ लिखा गया है। भारतीय काव्य शास्त्र में भी समीक्षक के आवश्यक कर्त्तव्य और गुणों का यत्र-तत्र संकेत मिलता है। यहाँ पर हम प्राच्य और पाश्चात्य दोनों देशों के आलोचनाशास्त्र और काव्यशास्त्र को दृष्टि में रखते हुए संक्षेप में आलोचक के आवश्यक गुणों का संकेत करते हैं।

सहृदयता

सहृदयता आलोचक का आवश्यक गुण है क्योंकि भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार कोई भी व्यक्ति बिना सहृदय हुए काव्य का रसास्वादन नहीं कर सकता। पाश्चात्य देशों में प्राचीन आचार्यों ने सहृदयता

10.7 आलोचना का ऐतिहासिक पक्ष

आलोचना का ऐतिहासिक पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। प्राचीन काल में अधिकांश आलोचना कोरी निर्णयात्मक होती थी। वे निर्णय बहुत कुछ वैयक्तिक रुचि पर आश्रित रहते थे। किन्तु आज आलोचक को निर्णय देने से पहले आलोच्य वस्तु और उससे सम्बन्धित बातों के ऐतिहासिक पक्ष पर भी विचार करना पड़ता है।

आलोचक को भी उसी भूमि तक पहुँचने की चेष्टा करनी चाहिए जिस पर लेखक स्थिर रहता है। इस लक्ष्य पर आलोचक तभी पहुँच सकता है जब वह उसके ऐतिहासिक पक्ष का सांग विवेचन करे। इसीलिए आधुनिक आलोचक किसी कवि की आलोचना करते समय उन तमाम परिस्थितियों का ऐतिहासिक विवरण देते हैं जिनमें पड़कर कवि ने अपनी कृति लिखी होगी। क्रोचे ने इसीलिए अपने दार्शनिक सिद्धान्त के विवेचन में इतिहास को बहुत अधिक महत्त्व दिया है।

हडसन ने लिखा है कि आलोचना में आजकल की ऐतिहासिक शैली बड़ा महत्त्व रखती है।

10.8 वैज्ञानिक आलोचना

जब आलोचक, विज्ञान-क्षेत्र में प्रचलित वर्गीकरण, प्रक्रिया कार्य-कारण सम्बन्ध समीक्षा, तत्त्व मीमांसा आदि सिद्धान्तों को साहित्य समीक्षा की कसौटी बनाकर आलोचना प्रवर्तित करते हैं, तब उस आलोचना को वैज्ञानिक आलोचना कहते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक समीक्षा का अच्छा प्रकार हो चला है। 90 प्रतिशत हिन्दी के अनुसन्धानात्मक निबन्ध इसी प्रणाली में लिखे जा रहे हैं। किन्तु बुद्धितत्व की अतिरेकता के कारण शैली की गति यन्त्रवत् प्रतीत होने लगती है। शुष्क वैज्ञानिक आलोचना-प्रणाली से आलोचना जगत् में निष्क्रियता आने की सम्भावना है। सफल आलोचना में वैज्ञानिकता को भी विशेष महत्व दिया जाता है। आलोचना भावनालोक की वस्तु नहीं होती। इसमें आलोचक को बुद्धिवादिता और विश्लेषण से काम लेना पड़ता है। पहले वह आलोच्य वस्तु की व्याख्या और उनका विश्लेषण करता है।

10.9 तुलनात्मक ऐतिहासिक आलोचना प्रणाली

इस कोटि की आलोचना का प्रमुख लक्ष्य उन ऐतिहासिक परिस्थितिजन्य प्रभावों को खोज निकालना है। इस कोटि का आलोचक परिस्थितिजन्य प्रभावों के प्रकाश में ही आलोच्य वस्तु की आलोचना करता है। इस कोटि के आलोचकों ने लोक-गाथा, भाषाविज्ञान, तथा शब्द-व्युत्पत्ति शास्त्र से इसका सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है। इसका प्रमुख उद्देश्य साहित्यिक प्रभावों का अनुसन्धान है। आलोचना में तुलना का भी बड़ा महत्व होता है। सच तो यह है कि हडसन ने व्याख्या और मूल्य निर्धारण आलोचना के जो दो प्रमुख तत्व बतलाए हैं उनके मूल में तुलना पक्ष स्वयं विद्यमान रहता है।

10.10 आलोचना का मनोवैज्ञानिक पक्ष

अभी निर्णय पक्ष पर विचार करते हुए हमने आलोचना के मनोवैज्ञानिक आधारभूमि की आवश्यकता सांकेतिक की है। रिचर्ड्स ने अपने 'Principle of Literary Criticism' नामक पुस्तक में इस सम्बन्ध पर अच्छा विचार किया है।

अब मानसिक घटनाओं के विश्लेषण के लिए ज्ञान का अच्छा विकास हो चुका है। अतएव किसी कविता को पढ़ते समय उनसे बड़ी सहायता मिलती है। आलोचक के लिए इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण परमापेक्षित होता है। आलोचना में मनोवैज्ञानिक का विश्लेषण करते समय हमें अपने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से ही प्रेरित नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे आलोचना क्षेत्र में अव्यवस्था उत्पन्न होने की आशंका हो सकती है।

10.11 सैद्धान्तिक आलोचना

सैद्धान्तिक आलोचना का जन्म भारत और पाश्चात्य देशों में बहुत पहले हुआ था। बहुत सी एक सी कृतियों का अध्ययन कर जब आलोचक आलोचना के मापदण्ड के रूप में किन्हीं सामान्य नियमों का निर्धारण करता है, तो उस समीक्षा को सैद्धान्तिक समीक्षा कहते हैं। फिर भी उसने सैद्धान्तिक समालोचना के स्वतन्त्र स्वरूप का निम्नलिखित शब्दों में सुन्दर ढंग से निर्देश कर दिया है।

आलोचक का कार्य केवल यही नहीं है कि वह किसी के औचित्य और अनौचित्य का ही निर्देश करें उसका कर्त्तव्य है कि वह उन सिद्धान्तों और नियमों को खोज निकाले, जिनके आधार पर उस काव्य-कृति का निर्माण किया गया और उन नियमों को सिद्धान्तों के रूप में निश्चित कर दे।

10.12 स्त्रीवादी सौन्दर्य शास्त्रीय आलोचना

इस कोटि के उपन्यास या काव्य का प्रधान लक्ष्य रोमानी ढंग के प्रेम का वर्णन करना ही रहा है। प्रेम के बीच में सौन्दर्य-चित्रण को विशेष स्थान दिया गया है। लेखकों ने सौन्दर्यात्मक यथार्थवाद का स्वरूप प्रस्तुत किया है।

पाश्चात्य विद्वानों ने शैली का तीसरा तत्व सौन्दर्यनुभूति माना है। शैली में चार विशेषताएँ होती हैं–

(अ) संगीतात्मक

(ब) बाह्य सौन्दर्य

(स) आन्तरिक सौन्दर्य

(द) आकर्षण

स्त्री या नायिकाओं का वर्णन करते समय प्राय: विश्लेषणात्मक शैली का अनुसरण करते हैं।

स्त्री सौन्दर्य की आलोचना उससे रूप-ढंग शृंगार की तुलना के लिए अलंकारों द्वारा की जाती है।

आलोचना

डॉ. जॉनसन का मत है कि आलोचना का कर्त्तव्य न तो किसी का अवमूल्यन करना है और न आंशिक विवेचन द्वारा उसे गरिमा-मंडित करना। उसका कार्य तो विवेक के आलोक में जो दिखाई दे, उसका उद्‌घाटन करना और सत्य के निर्देश में जो निर्णय हो, उसका आख्यान करना है।

विभिन्न कलाकारों को उच्च, मध्य या निम्न श्रेणियों में रखना भी आलोचक का कार्य नहीं, क्योंकि एक रचनाकार किसी क्षेत्र में बढ़ा-चढ़ा होता है, तो दूसरा किसी दूसरे क्षेत्र में। स्पैंसर की कविता में रोमांटिक तत्व अधिक हैं, तो मिल्टन का काव्य अपनी विराट् कल्पना और उदत्तता के लिए विख्यात है। अत: एक को बड़ा और दूसरे को छोटा कहना उचित नहीं। विन्चेस्टर ने कहा है–

" There are always such essential difference between great writers that it is idle to attempt to determine their comparative value".

शास्त्रीय समालोचना (Academic Criticism)– इस आलोना के अर्न्तगत आलोचक लक्षण-ग्रन्थों या काव्यशास्त्रीय पुस्तकों में दिये गये शास्त्रीय नियमों के आधार पर रचना की परख या उसका मूल्यांकन करता है उदाहरण के लिए, यदि वह किसी महाकाव्य की परीक्षा करने बैठेगा, तो उसके सामने मम्मट, विश्वनाथ आदि द्वारा दिये गये महाकाव्य की लक्षण होंगे और वह यह देखेगा कि उसके महाकाव्य में उन शास्त्रीय लक्षणों का किस सीमा तक पालन किया गया है। जिस सीमा तक वह उन शास्त्रीय नियमों का पालन रचना में पाएगा, अपनी व्यक्तिगत रुचि के आधार पर कृत का मूल्यांकन करेगा इसमें कृति में बाह्य रूप-विधान का विश्लेषण अधिक होता है। अत: इसे Formal Criticism भी कहा गया है।

15 वीं शताब्दी के मानवादी यूरोपीय विद्वानों ने साहित्य के पांडित्यपूर्ण अध्ययन का नवीन आदर्श प्रस्तुत किया था और कतिपय साधनों– व्याकरण, शब्दशास्त्र और वाग्मिता शास्त्र (Rheortics) को विशेष महत्व दिया था।

निर्णयात्मक आलोचना (Judicical cirtiscm)– इस प्रणाली में आलोचक न्यायाधीश की तरह कृति के विषय में अपना निर्णय देने के लिए शास्त्रीय सिद्धांतों को आधार बनाता है, तो कभी अपनी रुचि को। वह समाज कल्याण की दृष्टि से भी कृति का मूल्यांकन करता है और उसे सत् या असत् घोषित करता है। इसके अर्न्तगत वह कृति का मूल्यांकन वह कृति और कृतिकार का सुन्दर-असुन्दर, महान् लघु, सामान्य आदि श्रेणियों में वर्गीकरण भी करता है और उनका साहित्य में स्थान निर्धारित करता है। मोल्टन ने इस प्रणाली का खण्डन किया है क्योंकि उसके मतानुसार आलोचक का कार्य कृति की व्याख्या करना है, उसके सौन्दर्य तत्वों का उद्घाटन कर उसका भावन करना और दूसरों को उसका भावन में सहायता देना, न कि न्यायाधीश की तरह निर्णय देना है। परन्तु दूसरे विद्वानों जैसे एडमंड शरर या हडसन निर्णयात्मक आलोचना को मान्यता देते हैं। उनका तर्क है कि कोई भी आलोचक कृति को पढ़ने के बाद निर्णय देने से बच सकता। भले ही यह निर्णय अप्रत्यक्ष और प्रच्छन हो। व्याख्या करने वाला आलोचक भी कहीं अपनी रुचि के कारण कृति के विषय में कुछ ऐसी बातें कह ही जाता है कि उससे उसकी पसंद या नापसंद का ज्ञान हो जाता है। हडसन का कथन है।

Jugement in literature is universal ... No one can read intelligently without giving some opinion of the value of what he reads.

हडसन के कथन से हम सहमत हैं, पर साथ ही यह भी नहीं मानते है कि आलोचक कृति या कृतिकार को न्याय के कटघरे में खड़ा कर उसके सम्बन्ध में अपना निर्णय दे। उसका व्यवहार सहानुभूति होना चाहिए न कि कटु और उसका निर्णय भी प्रच्छन होना चाहिए। केवल प्रशंसा या निन्दा करने से निश्चय ही आलोचक का कर्त्तव्य पूरा नहीं हो जाता।

व्याख्यात्मक समालोचना (Inductive criticism)– इस प्रणाली को लाने का श्रेय शेक्सपीयर के प्रसिद्ध समालोचक डॉ. मोल्टन को है। उन्होंने वैज्ञानिक अन्वेषण और व्याख्या विश्लेषण को ही आलोचना का आदर्श माना हैं उनके अनुसार जिस प्रकार वैज्ञानिक प्रकृति के नियमों को प्रकृति में ही ढूंढते हैं, उसी प्रकार आलोचना को साहित्य सृजन के सिद्धांत के ऊपर से न लादकर उसी पुस्तक-विशेष के अनुसंधान से प्राप्त करने चाहिए।

व्याख्यात्मक आलोचक कृति की अन्तरात्मा में प्रवेश कर अत्यन्त सहृदयतापूर्वक उसके उद्देश्यों और विशेषताओं का उद्घाटन करता है। इस प्रणाली में सिद्धांत पक्ष गौण होता है और विश्लेषण तथा व्याख्या

प्रधान होती है। इसमें आलोचक का कार्य न्यायाधीश का है और न प्रभाववादियों की तरह केवल अपने मन पर पड़े प्रभाव (impressions) को ही प्रधानता देना है। वह तो किसी ग्रंथ में आई बातों को एक व्यवस्थित रूप में सामने रखकर उसका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करता है, उसके सौंदर्य का उद्‌घाटन करता है, उसका मूल्य निर्धारित नहीं करता–

The inductive criticism will entirely free itself from the judicial spirit and its comparisons of merit ..... it will examine literature in the spirit of pure investigations looking for the laws of art in the practice artists.

इन सभी उक्तियों का तात्पर्य यही है कि आलोचक अपनी रुचि के आधार पर कृति का मूल्यांकन करता है, निश्चित नियमों, शास्त्रीस लक्षणों और मान्यताओं से अधिक व्यक्तिगत रुचि, भावना और जीवन-दर्शन को महत्व देता है और मन पर छोड़े जाने वाले कृति के प्रभाव की अभिव्यक्ति करता है।

वह कला के इन्द्रियाभुत प्रभाव को व्यक्त करता है और मूल्य निर्धारण की अपेक्षा कलात्मक अनुभूति के स्पन्दनों को व्यक्त करता है। ऐसे आलोचकों की आलोचला में उनके व्यक्तित्व का अदम्भ आग्रह होता है क्योंकि इसमें सहज अनुभूति एवं प्रकाशन की प्रमुखता होती है। अंग्रेजी में आर्थर साइमन्स, रार्बट लिन्ड, वाल्डर पेटर तथा आर्थर क्विलरकूच इसी प्रकार के आलोचक हैं और हिन्दी में शुक्ल जी में हम कहीं-कहीं इसी प्रकार की आलोचना पद्धति पाते हैं।

इस आलोचना पद्धति का विरोध निम्न कारणों से हुआ है–

(1) इस पद्धति से आलोच्य विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं होता।

(2) आलोचक अपनी रुचि को पाठक पर लादता है।

(3) आलोचना में मन पर पड़ने वाले आनन्द आदि के प्रभाव का उतना महत्व नहीं है। जितना कि यह विचार है जो भाव कृति में प्रस्तुत किये गये हैं, वे कहां तक उचित हैं।

(4) "भिन्नरुचिर्हिलोक"– कहकर आलोचक ऊल-जलूल बाते कहेंगे और आलोना में प्रमाणितकता नहीं रह जाएगी। मूल्यांकन के क्षेत्र में अराजकता फैल जाएगी।

शुक्ल जी तक इन दोषों से नहीं बच पाए हैं। प्रबन्ध काव्य को आदर्श मानने के कारण ही उन्होंने सूर को उतना महत्व नहीं दिया। जितने के वह अधिकारी हैं और जायसी को आवश्यकता से अधिक ऊँचा उठा दिया। सहानुभूति न होने के कारण ही उन्होंने छायावादी काव्य को समुचित स्थान नहीं दिया।

प्रन्तु प्रथम तो इस आलोचना पद्धति में हम किसी मानदण्ड से मापने की नीरस प्रक्रिया से बच जाते हैं, दूसरे अपनी अनुभूति को किनारे शास्त्रीय विधान से अनुभव नहीं कर सकते, न वैज्ञानिक अनुसन्धान ही उसमें हमारा सहायक होता है, उसके लिए तो सहृदयता की ही आवश्यकता पड़ती है।

अतः प्रभाववादी समीक्षा है तो आवश्यक और उपादेय उस पर कुछ नियंत्रण अवश्य रखना होगा। प्रथम तो प्रभावव्यंजना के नाम पर मनोमुग्धदृष्टि युक्त आलोचना से बचना होगा। किसी कृति की केवल प्रशंसा या कुत्सा करना या व्यक्तिवैचित्य के कारण निरर्थक बातें लाना आलोचना नहीं; मूल से असम्बद्ध बातें कहना, मनमानी बाते करना और प्रवाह, सौन्दर्य आदि के नाम पर भाषा-शैली का वाग्जाल फैलाना जैसा कि कभी-कभी प्रभावव्यंजक आलोचक के नाम पर किया जाता है, दूसरे इस प्रकार के आलोचक में सहृदयता और भावयित्री प्रतिभा भी अपेक्षित है।

मार्क्सवादी आलोचना (Progressive Critiscims)– इस प्रणाली का जन्म रूस में मैक्सिम गोर्की के द्वारा हुआ इसमें परिस्थितियों और वर्ग-संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में कृति का मूल्यांकन किया जाता है। इसमें साहित्य को

सामूहिक कर्म माना जाता है और उसका उद्देश्य समाज का भौतिक कल्याण है इसके अनुसार जो कृति मार्क्सवादी सिद्धांतों के प्रचार और श्रमजातियों और सर्वहारा वर्ग के कल्याण में जितनी अधिक उपयोगी है, वह उतनी ही श्रेष्ठ समझी जाती है। इसमें न तो व्यक्तिगत प्रतिभा-स्फुरण को देखा जाता है, न कृति के आन्तरिक कला-पक्ष को, केवल सामाजिक तत्वों की ही परीक्षा की जाती है। स्पष्ट है कि यह दृष्टि एकांगी है और इससे कलाकृति का सम्यक् मूल्यांकन और भावन नहीं हो पाता।

नई समीक्षा (New Criticism)– समाजवादी, मनोवैज्ञानिक, जीवन चरितात्मक आलोचना सौन्दर्य के बाह्य प्रकाश द्वारा जिसका प्रतिनिधित्व अमरीका के 'New Critisicism' सम्प्रदाय के विद्वान् करते हैं, वह काव्यकृति को ही सब मानती है और आलोचक का ध्यान उसी पर केन्द्रित रहता है। वह बाहरी साधनों- इतिहास, युगीन आन्दोलन, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों आदि की उपेक्षा करती है। इस पद्धति का विकास और विस्तार अमरीका में सर्वाधिक हुआ है और ब्लैक मूर, क्लिन्थ ब्रुक्स रैम्सम, वारेन आदि इस पद्धति के प्रमुख आलोचक हैं। इंग्लैंड में इसके प्रतिनिधि प्रो. आई. ए. रिचर्ड्स एम्पसल और टी. एस. इलियट है। इस पद्धति में विश्लेषणात्मक शैली अपनायी जाती है, काव्यकृति को एक स्वतंत्र इकाई माना जाता है। इस धारा के आलोचकों का विश्वास है कि काव्य सौष्ठव की स्थिति काव्यकृति में ही रहती है और उसे वहां खोजना चाहिए। काव्यकृति में कलात्मक सौन्दर्य के अनुसंधान के लिए वे काव्य के आकार, रूप-संघटन भाषा-शैली आदि का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं। इस आलोनात्मक विश्लेषण के दो प्रमुख विषय हैं– रूप-विधान (structure) तथा भाषा-शैली सम्बन्धी विशेषताओं का अध्ययन (Texture)। प्रत्येक काव्यकृति का अपना रूप विधान होता है। इन निर्माण व्यवस्था के लिए वह कल्पना और कला के नियमों का आश्रम लेता है और कच्ची सामग्री को एक नये साँचे में ढालता है, नयी समीक्षा में समीक्षक यह जानने का प्रयास करता है कि सर्जना किस प्रकार हुई है उसके रूप-संघटन का क्या रहस्य है। अत: वह समग्र रूप और उसके विभिन्न अवयवों का अध्ययन करता है और चित्रों (digarams) द्वारा प्रदर्शित करते हैं। काव्य में पैटर्न, निश्चित रूप-व्यवस्था खोजी जाती है। इस पद्धति के आलोचकों के अनेक कवियों की कृति में बंधे हुए ढर्रे पैटर्न्स खोज निकाले हैं। जिस रचना में विविध अंगों की संतुलित और सुनियोजित व्यवस्था हो, जीवन एकता हो, विविध तत्व और अंग अनिवार्य क्रम में निबद्ध होकर एकता की प्रतीति कराएं और इस प्रकार मन को रमाएं वही उत्तम मानी जाती है।

टेक्सर का अभिप्राय है वह ताना-बाना जिसका गुम्फन कविता में होता है। कविता में शब्द, अर्थ, ध्वनि, लय रूपक, बिम्ब, प्रतीक, पुरावृत्त (myth) आदि का अध्ययन करना ही इसका कार्य है। अत: आलोचक इस पद्धति में अभिवयक्ति के इन साधनों का विशेष विवेचन करता है कृति को समझने के लिए इन सभी अंगों-उपांगों को पृथक् क़र उनकी वास्ताविक शक्ति और मूल्य का निरीक्षण किया जाता है, उनके पारस्पारिक सम्बन्धों का अध्ययन होता है। आई. ए. रिचर्ड्स और उनके सहयोगियों ने शब्द और अर्थ के विभिन्न सम्बन्धों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। शब्द-शक्ति अर्थ के प्रकार-भेद प्रसंगानुसार अर्थ परिवर्तन इन सब की इस पद्धति में विशेष महत्व है। ये लोग लय का भी अध्यन करते हैं और बताते हैं कि गद्य की लय पद्य से किस प्रकार भिन्न है, आन्तरिक लय-जो ध्वनि और अर्थ के सम्मिश्रण से पैदा होती हैं, प्रत्यक्ष लय से किस प्रकार भिन्न है। रूपक पर भी ये विचार प्रकट करते हैं। यह आलोचना पद्धति परिश्रम साध्य है पर उससे काव्य के चमत्कारपूर्ण रहस्य उद्घाटित होते हैं, अनेक पक्ष आलोकित होते हैं। भाषागत विशेषताओं और शब्द शक्तियों के विवेचन से अनेक स्थलों का गूढ़ अर्थ स्पष्ट हो जाता है। भाषा के स्वभाव और शब्दों के विभिन्न कार्यों का विशद विवेचन निश्चय ही कविता को ठीक-ठीक समझने में सहायक होता है। व्यंग्य और विरोभाधास को भी ये लोग अत्याधिक महत्व देते हैं।

इस पद्धति से अभी तक मुख्यत: कविता का ही अध्ययन किया गया है, पर अब नाटक और उपन्यास का भी अध्ययन होने लगा है।

इस पद्धति ने समीक्षा को एक वैज्ञानिक अनुशासन से नियंत्रित कर दिया है, पर इसके कतिपय दोष भी हैं– प्रथम तो इस पद्धति की आलोचना में भाषा उत्तरोत्तर जटिल होती जा रही है और दूसरे कृति को युग से निरपेक्ष देखने की कृति का सही मूल्यांकन तो क्या उसे सही-सही ढंग से समझना भी कठिन हो जाएगा। शब्दों, अलंकारों, प्रतीकों को रूप समय के उसका विश्लेषण करेंगे तो गलती होगी। उस युग का विरोधाभास और व्यंग्य आज हमें सजीव नहीं लगेगा और उसकी प्रशंसा करने पर कुत्सा करेंग जो निश्चय ही उसके साथ बदलता चलता है। यदि हम 16वीं शताब्दी की रचना को आज की रचना मानकर उसका विश्लेषण करेंगे तो गलती होगी। उस युग का विरोधाभास और व्यंग्य आज हमारे साथ अन्याय होगा।

उपर्युक्त पद्धतियों के अतिरिक्त आलोचना की अन्य विधियां भी साहित्य के मूल्यांकन में सहायक हुई हैं। 15वीं शताब्दी के अन्त में प्राचीन पाण्डुलिपियों की खोज और उनके सम्पादन का कार्य रोम, मिलान और फ्लोरेंस में होने लगा था। प्राप्त विभिन्न प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्रामाणिक पाठ निर्धारित हुए और तब उनका साहित्यिक अध्ययन किया गया। शेक्सपीयर की कृतियों के पाठ-भेद, समय-निरूपण, क्रम-निरूपण आदि पर आश्चर्यजनक कार्य हुआ है। हिन्दी में पृथ्वीराजरासो, पद्मावत, रामचरितमानस, सूरदास की रचनाओं के प्रमाणित पाठ निर्धारित किये गये हैं; इस दिशा में उल्लेखीय नाम है डॉ. माताप्रसाद गुप्त का। इधर की ओर मुद्रित एवं प्रकाशित पुस्तकों तथा हस्तलिखित कितना अंश प्रक्षिप्त है, इस बात का पता भी लगाया जाता है। यह कार्य निश्चय ही अत्यन्त श्रमसाध्य है। पर इस पाठालोचन-पद्धति पर आक्षेप लगाया जाता है कि उसमें मूल्यांकन का क्या आशय है, अत: उसका विशेष महत्व नहीं है। इस आपार श्रम से केवल समीक्षा के लिए भूमि तैयार होती है काव्य का रहस्योद्घाटन नहीं हो पाता। प्रथम तो भूमि तैयार करना कम महत्वपूर्ण नहीं, साथ ही इस प्रकार का व्यापक अध्ययन काव्य के अनेक पक्षों को आलोकित करता है, अनेक स्थलों का अर्थ समझने में इससे सहायता मिलती है। अत: पाठ-निर्धारण की पद्धति की भी अपनी उपादेयता है।

दार्शनिक विचारों के सहारे साहित्य की आत्मा तक पहुंने का महत्वपूर्ण प्रयास, जर्मनी अमरीका तथा अन्य देशों में किया गया है। कालेरिज का मत था कि दार्शनिक हुए बिना कोई कवि महान् नहीं हो सकता और विश्व साहित्य का इतिहास भी इसका प्रमाण है कि विशुद्ध दर्शन ने साहित्य को गम्भीरतापूर्वक प्रभावित किया है। प्लेटो से लेकर नीत्से, बर्गसां और क्रोचे तक अनेक दार्शनिकों के विचारों की छाप पश्चिम के साहित्य पर सहज ही देखी जा सकती है। कुछ दार्शनिकों ने काव्य भी लिखे गये हैं, जैसे दान्ते की 'डिवाइन कमेडी' या गेटे का 'फास्ट'। आंग्ल कवि शैले की कविता पर गाडविन का प्रभाव परिलक्षित होता है।

पुरावृत्त आलोचला (Myth Criticism)– वर्तमान युग में मानवशास्त्र (Anthropology) तथा मनोविज्ञान (Phychology) की खोजों ने पुरातन्त (myth) के स्वभाव और स्वरूप और नूतन प्रकाश डाला है। फ्रायड और युग की स्थापनाओं ने कविता और सम्पन्न, स्वप्न और पुरावृत्त तथा कविता के निकट सम्बन्ध का उद्घाटन किया है। युग ने सामूहिक अचेतन तथा मूलरूप (Archetype) के महत्व को बताते हुए कविता और पुरावृत्त की एकरूपता को सिद्ध किया है। इस नवीन ज्ञान ने सर्जनात्मक साहित्य और समीक्षा दोनों को प्रभावित किया है। विचारकों और आलोकों का एक दल जिन्हें हम mthy critics कह सकते हैं पुरानवृत्त और कविता में प्रतीकों की प्रधानता पर बल देता है। कैसिरर नामक विद्वान् ने पुरावृत्त और भाषा में प्रतीकों की उपादेयता का विवेचन किया है। ग्रन्थ विचाकरों ने मिथ और कविता को आर्किटाइप अर्थात् मूलरूप से सम्बन्द्ध माना है। अत: इस धारा के आलोचक का प्रमुख कर्त्तव्य मूलरूप (archetype) का निर्धारण और उससे कथा एवं

काव्य का सम्बन्ध निरूपण करना है। कैसिरर और लैंगर ने प्रतीकात्मक रूप की खोज की है, नाथ्रार्प फ्राई सामूहिक अचेतन में निहित मूल वासना तक पहुंना आलोचक का चरम लक्ष्य मानते हैं। वह काव्य के रूप-विश्लेषण को महत्व देकर उस आर्किटाइप की खोज करना आवश्यक मानते हैं जो कविता का मूल निबद्ध है।

चेज ने कतिपय सौन्दर्यपरक तत्वों की चर्चा तो की है, पर उनकी प्रमुख समस्या वासनाओं के विवेचन से सम्बद्ध है। युग फीड्लर, कुमारी बाड्किन का विशेष आग्रह आर्किटाइप पर है। फीड्लर यह मानते हैं कि साहित्य का एक ही प्रमुख और प्रतिष्ठित विषय है– आर्किटाइप। कवि उसी को अपने ढंग से निरूपति करता है। कवि के मन में चिरन्तन प्रकट होते हैं। इस धारा का आलोचक मानवशास्त्र के पंडित में रूप में आलोचना का कार्य करता है। इसीलिए फ्राई ने उसे Literary Anthroplogist कहा है। यह समीक्षक पुरावृत्त, लोककथा, यज्ञ और पूजा की विधियों *(rituals)* का अध्ययन करता हुआ कविता तक पहुंचता है, और इन सभी में जो समान तत्व हैं उनकी खोज करता है।

इस आलोचना पद्धति में कविता के मूल्यों पर कोई जिक्र नहीं है कविता अच्छी या बुरी, सजीव है और निर्जीव इसका विचार ये आलोचक नहीं करते। वे केवल कविता के विषय और उसकी आपत्ति के प्रश्न में ही उलझकर रह जाते हैं। परम्परा ने साहित्यिक समीक्षा का मुख्य कार्य सफल और असफल, अधिक और कम मूल्यवान कृतियों में विभेद करना रहा है, साहित्यिक मूल्यांकन करना रहा है, पर ये आलोचक इस मूल्यांकन के प्रति उदासीन ही नहीं विमुख भी हैं। मूलत: समीक्षा किसी कृति की विशेषताओं तथा उसके गुण-दोषों का विवेन है, किन्तु मिथ-क्रिटिक्स इस बात पर ध्यान नहीं देते। साहित्य-समीक्षा का कार्य कृति का स्वरूप ग्रहण भी है और उसका मूल्यांकन भी। ये आलोचक कविता में प्रयुक्त मौलिक चित्रों (archetypes) के स्वरूप को समझते हैं उनकी सार्थकता और उनके औचित्य का पता लगाते हैं, पर मूल्यांकन के प्रति उदासीन हैं।

निश्चय ही मिथ-सम्बन्धी आधुनिक अध्ययन में साहित्य एवं साहित्यिक समीक्षा की नवीन सम्भावनाओं के लिए द्वारा खोल दिया है; सामग्री शैली और वातावरण निर्माण के क्षेत्र में अनेक नवीन सुविधाएं उपलब्ध करा दी हैं। रचना का वास्तविक मूल्यांकन, परख इस पद्धति के आलोचक नहीं करते। इनका प्रयोजन तो मुख्य रूप से मानवशास्त्र और मनोविज्ञान है, अत: विषयांतर-दोष भी इस पद्धति की एक अन्य त्रुटि है। केन्द्रीय प्रश्नों पर सम्यक् ध्यान न देने तथा कलागत मूल्यों की उपेक्षा के कारण, केवल नवीन समीक्षा-साधनों और बाह्य उपकरणों पर ध्यान केन्द्रित करने के कारण इस समीक्षा पद्धति को वह मान्यता मिलना संदिग्ध ही है, जिसकी आशा इसके प्रवर्तकों ने की थी।

साहित्यिक अध्ययन में परम्परागत पाण्डित को अधिक महत्व मिलना चाहिए अथवा शोध को, यह विवाद का विषय है। एक ओर पुरानी परिपाटी के पण्डित अनुसंधान कार्य का तिरस्कार करते हैं तो दूसरी ओर शोधकर्त्ता व्यापक पाण्डित्व को अनावश्यक समझ केवल सीमित विषय में उलझ जाते हैं। विश्वविद्यालयों में हो रहे शोध-कार्य में यही दोष है। वस्तुत: शोध तभी आलोचना के लिए उपयोगी हो सकती है जब उसमें प्रतिभा का आलोक हो, उसके पीछे गम्भीर एवं व्यापक पाण्डित्व हो, केवल ऐतिहासिक तथ्यों, तिथियों उद्धकरणों, पाद-टिप्पणियों आदि के सकलन से समीक्षा मूल्यवान् नहीं हो सकेगी। वस्तुत: सम्यक् साहित्यिक मूल्यांकन के लिए शोध और पाडिण्य दोनों का संयोग वांछनीय है। परम्परागत पाण्डित्य की आधारशिला पर ही शोध का नवीन भवन खड़ा किया जा सकता है। नींव का सुदृढ़ होना जरूरी है परन्तु पाण्डित्य प्रतिफल तभी सम्भव है जब शोध द्वारा उसका उन्नवय किया जाय। एक अन्य विवादास्पद प्रश्न यह है कि क्या साहित्य के इतिहास ग्रन्थों को आलोना की कोटि में रखा जा सकता है। हमारा मत है कि ऐसे इतिहास ग्रंथ

जिनमें केवल तथ्य और तिथियां हैं साहित्यिक समीक्षा की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। किन्तु जिन ग्रंथों में तथ्यों के साथ प्रवृत्तियों, प्रभावों और विशेषताओं का स्पष्ट और संतुलित विवेचन हो, उन्हें हम आलोचना के अन्तर्गत समाविष्ट कर सकते हैं आज के इतिहास-ग्रंथ केवल तथ्यों के आलोचना के अन्तर्गत समानिष्ट कर सकते हैं। आज के इतिहास-ग्रंथ में तथ्यों के साथ प्रवृत्तियों प्रभावों और विशेषताओं का स्पष्ट और संतुलित विवेचन हो, उन्हें हम आलोचना के अर्न्तगत समाविष्ट कर सकते हैं। आज के इतिहास-ग्रंथ केवल तथ्यों के संकलन मात्र नहीं है। वे गम्भीर अध्ययन, दार्शनिक और वैज्ञानिक विश्लेषण के प्रतिफल हैं। कलात्मक मूल्यों के सम्यक् ज्ञान पर आधारित हैं। ये ग्रंथ निश्चय ही विशुद्ध साहित्यिक समीक्षा की भूमि तैयार करते हैं।

जो बात डॉ. जॉनसन ने बहुत पहले कही थी कि लेखक को जन-रुचि का ध्यान रखना चाहिए, वह आज का सत्य है। आज के लेखक को भी विस्तृत पाठक-समुदाय की रुचि और आवश्यकताओं का ध्यान रखना होगा और समीक्षा के लिए परम वांछनीय है कि मूल्यांकन के समय वह लोक अभिरुचि का ध्यान रखे। साहित्य की सार्वगीण व्याख्या के लिए एक साधन या एक विधि पर्याप्त नहीं है; उसके लिए हमें अनेक साधन और विधियाँ अपनानी पड़ेंगी। इन सभी विधियों के विवेकपूर्ण प्रयोग से साहित्य का सम्पूर्ण अर्थ और वैभव उद्घाटित हो पाता है। अत: किसी एक आलोचना पद्धति को ही सर्वोत्तम कहना समीचीन नहीं। प्रो. डेविड डाइसेज का भी यही मत है, "but the vision, or something approximating it, comes only to those who learn how to blend the insight yielded by many critical approaches.

समालोचन विज्ञान है या शास्त्र– हम ऊपर कह चुके हैं कि समालोचना का कार्य कलाकृति के गुण-दोषों का निर्णय तथा उसका मूल्यांकन में तर्क दो तरीकों से हो सकता है– तर्क द्वारा और भाव द्वारा। कुछ विद्वान् मूल्यांकन में तर्क दो प्राधान्य को स्वीकार करते हैं और आलोचना को विज्ञान मानते हैं। इसके विपरीत दूसरे काव्य की परख के लिए रसाभूति पर बल देते हैं और आलोचना को कला मानते हैं। उनका तर्क है कि साहित्य कोई स्थूल दृश्यमान वस्तु नहीं है, जिसका तर्क या विज्ञानसम्मत तरीकों से विश्लेषण और मूल्यांकन हो सके।

जो समालोचना को विज्ञान मानते हैं कि उनका तर्क है कि समालोचना साहित्यिक कृति के मूल या अन्तर्निहित गुणों का निर्णय करती है, वह गुण-दोष की कसौटी प्रस्तुत करती है, जो कुछ भी ज्ञातव्य एवं विचारणीय है उसका ज्ञान कराती है उसमें तर्क और विश्लेषण होता है, कृति का क्रमबद्ध विवेचन होता है, ज्ञानवर्धन होता है और ये सब बातें इससे सम्बद्ध हैं, अत: आलोचना विज्ञान है।

इसके विपरीत जो समालोचना को विज्ञान नहीं मानते उनका कथन है–

(1) व्यक्ति की रुचि ही प्रधान है और उसकी अपील कहीं नहीं हो सकती। अत: न तो बाह्य कसौटी बनाना उचित है और न उस कसौटी पर कृति का मूल्यांकन करना। यह बात पूरी तरह मान्य नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न रुचि लिए हुए भी कुछ बातें ऐसी सर्वमान्य हैं उन पर कृति को आंका जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि रुचि समय-समय पर बदलती है, तो हम यह कहेंगे कि प्रथम तो युग की रुचि के साथ-साथ मानदण्ड भी बदलने चाहिए या बाल्मिकी का काव्य आज भी महान् माना जाता है। मानव-रुचि और स्वभाव में कुछ तत्व ऐसे है जो सनातन हैं और जिनमें युगों बाद भी परिवर्तन नहीं होता। कुछ मिलाकर विन्वैस्टर के शब्दों में–

The diversity of taste among different races, ages and individuals is much less than the agreement.

अत: कुछ सिद्धांत जिन पर कृति का मूल्यांकन हो, शाश्वत और सार्वभौमिक हो सकते हैं।

(2) साहित्यिक प्रभाव इतने विविध प्रकार के होते हैं कि आप सभी कृतियों के लिए समान नियम निर्धारित नहीं कर सकते, ऐसे सर्वमान्य गुणों का निर्देश नहीं कर सकते। रचना को साहित्यिक बनाने के लिए प्रयुक्त उपकरण भी अलग-अलग होते हैं। कोई रचना हमारी बुद्धि को प्रभावित करती है, कोई हृदय को, कभी उसकी रूपविधा हमें प्रभावित करती हैं, कभी उसकी शैली। अत: उनका सुनिश्चित वर्गीकरण नहीं हो सकता। अत: आलोचना का कार्य कृति के गुणों का उद्‌घाटन होना चाहिए न कि उसका वर्गीकरण या उसे अच्छा-बुरा ऊँचा-नीचा कहना।

यह ठीक है कि साहित्यिक प्रभाव विविध प्रकार के होते हैं, फिर भी कुछ बातें ऐसी होती है जो प्रत्येक साहित्यिक रचना में पायी जाती हैं। अत: उन्हीं को मूल्यांकन का आधार मानना चाहिए।

(3) साहित्य व्यक्तिगत कर्म है। उसमें लेखक की प्रतिभा और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है और प्रतिभा के मूल्यांकन की कोई कसौटी नहीं हो सकती। अत: मूल्यांकन की एक कसौटी या नियम बनाना ठीक नहीं इस बात को सेन्ट्सबरी ने इस प्रकार कहा है–

"The essential qualities of literature as of all art communicated by the individual, they depend upon idiosyncrasy: and this makes science in any proper sense powerless."

पर जब कोई आलोचक किसी कृति की प्रशंसा करता है तो हम स्वाभावत: उससे पूछते हैं कि क्यों? और जब वह उत्तर देगा जैसा कि उसे देना चाहिए, तो वह कुछ कारण बताएगा। चूँकि कारण बताना ही विज्ञान का कार्य है, अत: आलोचना यहीं विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश कर जाती है। वस्तुत: आलोचना का कार्य केवल मन पर पड़े प्रभावों को प्रस्तुत करने तक ही सीमित नहीं है, उसे निर्णय भी देना होता है और अपने निर्णय के पीछे तर्क भी प्रस्तुत करने होते हैं। यही आलोचना का विज्ञान पक्ष है।

परन्तु चूँकि प्रतिभा और साहित्यिक प्रभावों के विविध रूप हैं और सभी को समझाया नहीं जा सकता, और न सबको नियामें की कारा में आबद्ध किया जा सकता है, अत: आलोचना के मानदण्ड सीमित और सरल होने चाहिए। आलोचक का कार्य यह नहीं कि वह लेखक को आदेश दे, उसे नियम-पालन के लिए बाध्य करे। वस्तुत: लक्षण तो लक्ष्य ग्रंथों से बनते हैं। अत: लक्ष्य ग्रंन्थों के आधार पर कृति की सर्वथा मूल्यांकन करना उचित नहीं। विन्चैस्टर ने ठीक ही कहा है–

..... rules and principles, however valuable, are not the first essential in the equipment to the ritic, they presuppose a certain sensitiveness and sympathy which may furnish the material for criticial judgement."

सारांश यह है कि आलोचना कला भी है और विज्ञान भी। उसमें तर्क भी आावश्यक है और भावानुभूति भी। वह तर्क और विश्लेषण के कारण विज्ञान है, तो रस संबोधन और प्रसाधन के कारण कला। साहित्यिक कृति के समान वह पुर्नरचना का कार्य करती है–

The first (poet or novelist) reconstructing impresions drawn from life, the other (critics) reconstructing impression drawn from life.

इस दृष्टि से आलोचना कला है। पर जहाँ कहीं निर्णय की बात आती है, वह विज्ञान बन जाती है। अत: आलोचना में कला और विज्ञान दोनों का समन्वय है। इसकी सिद्धि कला के निकट है और क्रम-पद्धति विज्ञान के निकट अत: उसे 'कला का विज्ञान' कहा जा सकता है।

10.13 समीक्षा की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में परम्परागत कला-मूल्यों, साहित्यिक अभिरुचि, कविता, काव्य-भाषा सम्बन्धी धारणा में मौलिक परिवर्तन हुआ। स्वच्छदतावादी युग के भिन्न अब कविता को व्यक्तिगत राग-द्वेष

और विचार, कवि की अनुभूति और उसके भावावेगों की सहज अभिव्यक्ति मात्र न मानकर प्रमुख रूप से कलात्मक रचना माना गया।

सार्थकता अर्थ में न मानकर उसके रूप में मानी गयी और कहा गया "A poem should not mean but be," कविता को विचार या भाव न कहकर पदार्थ कहा गया एक विशिष्ट अनुभव बताया गया जो अपने रूप से सर्वथा अभिन्न हो। एजरा पाण्डड ने कहा, "Content and expression are co-terminus form in meanings." इसलिए वैयक्तिक अभिव्यक्ति के स्थान पर बिम्ब विधान, रूपक, प्रतीक-योजना आदि को अधिक महत्व दिया हैं।

काव्य के सत्य के सम्बन्ध में भी दृष्टि परिवर्तन हुआ और कहा गया कि काव्य का सत्य संवादिता (Correspondance) का सत्य न होकर समन्विति (Coherence) का सत्य है।

कविता, उसके उद्देश्य और काव्यत्व के अधिवास के सम्बन्ध में दृष्टि परिवर्तन के कारण काव्य-भाषा के स्वरूप और उसके कार्य के सम्बन्ध में भी विचार बदले। यह कहा जाने लगा कि कविता में शब्द-अर्थ का सामान्य या साधाणीकृत प्रयोग न होकर उसका विशेष और मूर्त प्रयोग होता है। कवि शब्द विधान, बिम्ब योजना, प्रतीक-रचना, रूपक आदि अलंकारों के प्रयोग, वर्ण-विन्यास, शब्द गुम्फन, शब्दों की आवृत्ति, विशिष्ट सन्दर्भ से आलोकित अर्थ, अनेकार्थता (ambiguity), नाद-सौन्दर्य आदि के द्वारा सामान्य अर्थ भर देता है।

काव्य और काव्य भाषा विषयक इस दृष्टि परिवर्तन के फलस्वरूप आलोचना के सम्बन्ध में मत-परिवर्तन स्वाभाविक था। जब ब्लैंकमर आदि आलोचकों ने कथ्य तथा भाषा में तालमेल को कविता का सफलता का आधार बताया, *"The success of poem lies in the degree to which is language reprenests its success,"* तो आलोचना का कार्य भी शब्द-प्रयोग का गहन अध्ययन और मीमांसा हो गया।

शब्दार्थ विश्लेषण रचना की आन्तरिक अन्विति और उसके हृदय सहृदय पाठक की अन्त: वृत्तियों के समीकरण आदि के विश्लेषण को आग्रहपूर्वक अपनाया गया। इस प्रकार नयी समीक्षा का आधार हो गया कविता की आत्मा की खोज न करके काव्य की संरचनात्मक अन्विति अर्थात् कविता के समग्र रूप और अंगों के अन्त: सम्बन्धों का विश्लेषण की उसकी जटिल संरचना का परीक्षण करना। काव्य भाषा के सौन्दर्य तत्वों, तनाव, अनेकार्थता सार्वभौम मूर्तविधान सन्दर्भलोकित अर्थ छायाओं रूपक, बिम्ब प्रतीक आदि-का विश्लेषण और उनमें विद्यमान अन्विति सूत्रों को खोजना आलोचक का कार्य माना गया।

इस प्रकार समीक्षा प्रभावशाली, शास्त्रीय मनोविश्लेषात्मक के स्थान पर अर्थवैज्ञानिक हो गयी। इस सम्बन्ध के लिए स्पिट्टर का निम्नलिलिखित कथन द्रष्टव्य है ''कविता की रचना का आधार शब्द ही हैं– ये शब्द अपने सामान्य अर्थ को सुरक्षित रखते हुए कवि-प्रतिभा के जादू से छन्द के सांचे में ढल कर अतिशय अर्थ की सिद्धि कर लेते हैं; इस अर्थ परिवर्तन की विधि का विवेचन करना आलोचक का कर्त्तव्य कर्म है।''

नयी समीक्षा (The new criticism) शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम जोएल स्पिगार्न ने सन् 1911 ई. में किया। पर उसकी परिभाषा अपनी पुस्तक "The New Critisicim में उसकी व्याख्या की। इस नयी समीक्षा के अंत: सूत्र तीन पूर्ववर्ती काव्य सिद्धांतों के लिए, अभिव्यंजनावाद तथा बिम्बवाद में मिलते हैं।

नयी समीक्षा में व्यावहारिक व्याख्या विश्लेषण पर अधिक बल देने के विषय को लेकर, ब्लैकमर, क्लीन्स ब्रुक्स एम्पसन आदि के विचारों में मतभेद हैं।

नयी समीक्षा में आलोचक सर्वप्रथम रचना का वाक्यार्थ प्रस्तुत करता है, तदुपरान्त वह पाठ-विश्लेषण की पद्धति अपनाते हुए रचना में नियोजित शब्द, अर्थ तथा लय के कलात्मक प्रयोगों का विश्लेषण करता है। वह यह बताता है कि किस प्रकार कवि ने शब्द-कौशल, वर्ण-योजना, शब्द चयन शब्द गुम्फन, बिम्ब

योजना, प्रतीक-विधान, अलंकार-योजना नये-नये सन्दर्भों में प्रयुक्त शब्दों जो एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, द्वारा रचना में सामान्य से अधिक अर्थ भर दिया है।

शब्द-अर्थ के जटिल अतर्कित सम्बन्धों में संगति का सन्धान करना, शब्दार्थ के सौन्दर्य का उद्‌घाटन करना, शब्द-विधान (texture) का अर्थ-विधान (structure) के साथ समन्वय स्थापित करना और यह बताना कि उसका काव्यार्थ की संरचना के साथ किस प्रकार आंतरिक सम्बन्ध है– ये सब नयी समीक्षा की प्रविधि के अर्न्तगत आते हैं। इस प्रकार नयी समीक्षा की प्रविधि की प्रक्रिया के तीन सोपान हैं– (1) रचना की वाक्यार्थ प्रस्तुत करना, (2) शब्द-विधान कर बारीकियों को दिखलाकर कवि-कौशल पर प्रकाश डालना, और (3) शब्द-विधान का अर्थ विधान के साथ समन्वय करते हुए रचना के मूल अर्थ को प्राप्त करना। 'राम की शक्तिपूजा' से एक उद्धरण देकर हम बात को और स्पष्ट करना चाहेंगे–

उस ओर शक्ति शिव को जो दशस्कन्ध पूजित।
इस और रुद्र-वन्दन जो रघुन्दन-कूजित।।
करने को ग्रस्त समस्त व्योम कपि बढ़ा अटल।।
लख महानाश शिव अचल हुए क्षण भर चंचल।।

नयी समीक्षा में पहले आलोचक इन पंक्तियों कर वाक्यार्थ प्रस्तुत करते हुए यह बतलाएगा कि किस प्रकार रावण की तामसिक शक्ति और हनुमान की सात्विक शक्ति के बीच संघर्ष हुआ। हनुमान के पक्षधर थे राम और रावण की पीठ पर शिव थे। वस्तुत: यह संघर्ष हनुमान-रावण के बीच न होकर तामसी और सात्विक शक्तियों के बीच था। हनुमान का पक्ष प्रबल था क्योंकि वह भक्ति एवं सत् का पक्ष था।

वाक्यार्थ प्रस्तुत करने के बाद आलोचक शब्द विधान सम्बन्धी कौशल पर प्रकाश डालेगा। पंक्तियों में मध्यवर्ती तुक– महिमा श्यामा, रुद्र वन्दन-रघुनन्दन, ग्रस्त समस्त आदि, वर्ण-गुम्फन, सन्धायाक्षरों का प्रयोग, सामाजिक शब्दावली के प्रयोग से निष्पन्न अर्थ ,गंभीर्य, नाद-सौन्दर्य, चित्रमय शब्दावली, मानवीकरण, अनुप्रास पंक्तियों में भाव से अनुरूप त्वरित गति न होकर मंद-मंथर गति, विरोधी अर्थ वाले शब्दों का एक साथ प्रयोग 'अचल हुए, क्षण भर चंचल' आदि ने किस प्रकार काव्य-कौशल को अभिवृद्ध किया है, इसका विवेचन करेगा। शब्द-विधान पर विचार करने के उपरान्त वह अर्थ-विधान पर विचार करेगा और बताएगा कि उपर्युक्त पंक्तियों को अर्थ केवल एक स्तर पर न होकर अनेक स्तरों पर है। नयी समीक्षा के उद्धरण-विशेष का अपना काव्य-सन्दर्भ दिखाये जाने के साथ रचना के मूल अर्थ से उसका सम्बन्ध भी दिखाया जाता है।

नयी समीक्षा ने काव्य के रूप और शिल्प विधान के सौन्दर्य के विश्लेषण पर बल देकर इस उदासीनता पर प्रहार किया। इस योगदान को अस्वीकार न करने पर भी नयी समीक्षा की कतिपय सीमाओं की ओर ध्यान जाए बिना नहीं रहता। कला-कृति को स्वत: सम्पूर्ण और शब्द-विधान को ही सब कुछ मानना अनुचित है। कविता के शब्द-विधान का महत्व होते हुए भी उसका काव्य उपेक्षणीय नहीं है। कविता मात्र jargon नहीं है। नयी समीक्षा कथ्य के मूल्यांकन की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देती। अत: यह विवेचन एकांगी होता है।

समीक्षा काव्य के अनुभव को प्रत्यक्ष, गोर और तात्कालिक मानती है, इससे काव्य की परिधि से शाश्वत: सार्वभौम, चिरन्तन, सूक्ष्म भावों एवं विचारों को निष्कासित कर दिया जाएगा। फलत: काव्य की परिध सिकुड़ जाएगी।

एक भय जिसकी ओर इलियट ने संकेत भी किया है, यह है कि आलोचक कृति में अवगाहन की भाव-मुक्ता खोज लाने के स्थान पर शब्दों का विश्लेषण करने में जुट पाएंगे। और आलोचना नीबू निचोड़

बन कर रह जाएगी। रचना के समग्र प्रभाव का आलेख न कर केवल अंगों तक ही दृष्टि सीमित रखना, इस आलोचना की एक अन्य सीमा है।

अतिवादी होने के कारण यह समीक्षा भी एकांगी है, अत: शब्द विधान के साथ अर्थ-विधान को भी जब तक वह अपनी सीमा में ग्रहण नहीं करती, तब तक वह पूर्ण समीक्षा-पद्धति नहीं कहला सकती। यह आलोचना पद्धति भारत के लिए एकदम नयी नहीं कही जा सकती, क्योंकि भारत के वाक्य को ही नहीं, वाक्य रसात्मक काव्य अपितु शब्द को भी काव्य रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम् माना गया और टीकाकारों ने प्रत्येक श्लोक के सौन्दर्य का यथाशक्य निरूपण किया।

जो समालोचना को विज्ञान मानते हैं उनका तर्क है कि समालोचना साहित्यिक कृति के मूल तथा अन्तर्निहित गुणों का निर्णय करती है, वह गुण-दोष की कसौटी प्रस्तुत करती है, जो कुछ भी विश्व में ज्ञातव्य एवं विचारणीय है इसका ज्ञान कराती और प्रसार करती है उसमें तर्क और विश्लेषण होता है, कृति का क्रमबद्ध विवेचन होता है, ज्ञानवर्धन होता है और ये सब बातें विज्ञान से सम्बद्ध हैं, अत: आलोचना विज्ञान है।

इसके विपरीत जो समालोना को विज्ञान नहीं मानते उनका कथन है–

(1) व्यक्ति की रूचि ही प्रधान है और उसकी अपील कहीं नहीं हो सकती। अत: न तो बाह्य कसौटी बनाना उचित है और न उस कसौटी पर कृति का मूल्यांकन करना। यह बात पूरी तरह मान्य नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न रुचि होते हुए भी कुछ बातें ऐसी सर्वमान्य हैं कि उन पर कृति को आंका जा सकता है। उदाहरण के लिए– होमर या बाल्मिकी का काव्य आज भी महान माना जाता है। मानव रुचि और स्वभाव में कुछ तत्व ऐसे हैं जो सनातन हैं और जिनमें युगों बाद भी परिवर्तन नहीं होता। विचैस्टर के शब्दों में– "The diversity of tastes among different races, ages and individuals is much less than the agreement."

(2) साहित्यिक प्रभाव इतने विविध प्रकार के होते हैं कि आप सभी कृतियों के लिए समान नियम निर्धारित नहीं कर सकते, ऐसे सर्वमान्य गुणों का निर्देश नहीं कर सकते जिनके कारण कोई रचना साहित्यिक कहलाए। रचना को साहित्यिक बनाने के लिए प्रयुक्त उपकरण भी अलग-अलग होते है। कोई रचना हमारी बुद्धि को प्रभावित करती है, कोई हृदय को, कभी उनकी रूपविधा हमें प्रभावित करती है, कभी उसकी शैली अत: उसका सुनिश्चित वर्गीकरण नहीं हो सकता। अत: आलोना में कृति के गुणों का उद्घाटन होना हिए।

(3) साहित्य व्यक्तिगत कर्म है। उसमें लेखक की प्रतिभा और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होती है और प्रतिभा के मूल्यांकन की कोई एक कसौटी नहीं सकती है। अत: मूल्यांकन की एक कसौटी या नियम बनाना ठीक नहीं।

बोध प्रश्न

1. महाकवि मंगलकारी ने आलोचक के दो प्रमुख भेद कौन से बताये हैं?

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

NOTES

2. स्त्री या नार्थकाओं का वर्णन करते समय प्राय: किस शैली का अनुसरण किया जाता है।

. . . . . .

. . . . . .

. . . . . .

सारांश

आलोचना का समान अर्थ है किसी वस्तु के गुण दोषों को प्रकट करना। आलोचक वही हो सकता है जो भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न होता है। महाकवि मंगल ने आलोचक के और भेद किये है। उनमें मुख्य है– 1. अरोचकी 2. सतृणाभ्यकारी। आलोचक के प्रमुख गुण हैं– सहृदयता प्रतिभा, अन्तदृष्टि निष्पक्षता, वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का होना, सहानुभूति प्रेषणीयता आदि।

आलोचना का ऐतिहासिक पक्ष महत्त्वपूर्ण बताया गया है प्राचीनकाल में प्राय: आलोचना को निर्णयात्मक होती थी उनमें व्यक्तिगत रूचि की प्रधानता होती है। आज के आलोचक ऐतिहासिक पक्ष की उपेक्षा नहीं कर सकते। आलोचना के प्रमुख भेद है– वैज्ञानिक, तुलनात्मक, मनोवैज्ञानिक सैद्धान्तिक एवं स्त्रीवादी सौन्दर्य शास्त्रीय आलोचना।

पाश्चात्य विद्वानों ने शैली का तीसरा तत्त्व सौन्दर्यभूति बताया है। शैली की चार विशेषताएं होती है– संगीतात्मक, बाह्य 3. आन्तरिक सौन्दर्य 4. आकर्षण।